ISSN : 2321-6581
जुलाई - दिसम्बर - 2023
वर्ष : XI, अङ्क - II
कुल अङ्क - XXI
Impact Factor : 5.037

शोध नवनीत
SHODH NAVNEET

षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका

The Half Yearly International Peer-Reviewed Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी,
नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन

"Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge"

स्तुति प्राच्यविद्या समिति, गोण्डा (उ.प्र.)
STUTI PRACHYAVIDYA SAMITI, GONDA (U.P.)
अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com
अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com
चलभाष (contact us) : +91-7800193920

जुलाई - दिसम्बर - 2023 ISSN : 2321-6581
वर्ष : XI, अङ्क - II, कुल अङ्क - XXI
Impact Factor : 5.037

शोध नवनीत

SHODH NAVNEET

(षाण्मासिकी अन्ताराष्ट्रिया शोध-पत्रिका)

The Half Yearly International Peer-Reviewed (Refereed)
Research Journal of Humanities and Oriental Knowledge

हमारा प्रयास समाजोपयोगी, नवीन एवं प्राच्यज्ञान का प्रकाशन
Our whole effort is to publish societal, innovative and oriental knowledge.

प्रधान सम्पादक :
डॉ. अवधेश प्रताप सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादक :
डॉ. प्रमोद कुमार मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत, गौतमबुद्ध राजकीय महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)

सह-सम्पादक :
डॉ. आशुतोष पारीक
असिस्टेंट प्रोफेसर, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय अजमेर, राजस्थान
डॉ. सुनील कुमार शर्मा
सहायक आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली

स्तुति प्राच्यविद्या समिति
51- जबर नगर, पो. परास,
जिला - गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत - **271403**
अन्तर्जाल (Website) : www.shodhnavneet.com
अणुसंकेत (E-mail) : shodhnavneet@gmail.com
चलभाष (contact us) : +91-7800193920

- **प्रबन्ध सम्पादक**
  डॉ. अनुराधा शुक्ला

- **विधिक सलाहकार**
  श्री सतीश कुमार मिश्र
  एडवोकेट, चैम्बर नम्बर 18 ए, हाईकोर्ट, प्रयागराज – 211 002

- **शोध नवनीत**
- **Shodh Navneet (International Peer-Reviewed (Refereed) Research Journal)**
- **ISSN : 2321-6581**
- **Impact Factor : 5.037**
- **वर्ष : XI, अङ्क : II, कुल अङ्क : XXI, जुलाई – दिसम्बर 2023**

© प्रकाशक द्वारा सभी अधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक
  स्तुति प्राच्यविद्या समिति (Reg. No. - 1137/2013-14)
  म० सं० 51, जबर नगर, पो० परास
  जिला – गोण्डा, उत्तर प्रदेश, भारत – 271403
- सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920
- अणु-सङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**
- बेबसाइट : **www.shodhnavneet.com**
- सहयोग राशि (Subscription) : प्रति अङ्क **₹ 150**
  Soft Copy : Free by E-mail or Free Download from- www.shodhnavneet.com
- **D.D. 'Stuti Prachyavidya Samiti' Payable at 'Gonda'** के पक्ष में होना चाहिए।
- मुद्रित :
  प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स
  30/21, यूनिवर्सिटी रोड, प्रयागराज – 211 002

नोट : शोधपत्र/शोधलेख के प्रति सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसके आलेखकों का होगा तथा लेखकों के मत से सम्पादक, सम्पादक मण्डल आदि का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति आदि द्वारा चयनित शोधपत्रों को निःशुल्क प्रकाशित प्रदान किया जाएगा। शोध नवनीत से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद होगा। ₹ 1500 सहयोग राशि का भुगतान करके 'शोध नवनीत' शोध पत्रिका का वार्षिक सदस्य बना जा सकता है। सदस्य बनने पर सदस्यता प्रमाण-पत्र के साथ पत्रिका का वार्षिक दो अङ्क प्रदान किया जायेगा। प्रत्येक वर्ष जनवरी-जून अङ्क का प्रकाशन जुलाई माह के प्रथम सप्ताह में एवं जुलाई-दिसम्बर अङ्क का प्रकाशन जनवरी माह के प्रथम सप्ताह में किया जायेगा।

मुख्य संरक्षक (Chief Patrons)

- **प्रो. राम सेवक दुबे**

  कुलपति, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
- **प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय**

  पूर्व कुलपति, श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- **प्रो. के. रविशङ्कर मेनोन**

  पूर्व-कुलसचिव एवं संकायप्रमुख शिक्षाविभाग,

  राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मा. वि.), तिरुपति (आ.प्र.)
- **प्रो. राम किशोर शास्त्री**

  पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. सत्यप्रकाश दुबे**

  आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर, राजस्थान
- **प्रो. जि.एस. कृष्णमूर्ति**

  संकाय प्रमुख, साहित्य विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति

सम्पादक मण्डल (Editorial Board)

- **प्रो. उमेश प्रसाद सिंह**

  संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
- **प्रो. रंजन त्रिपाठी**

  संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विजय कुमार शर्मा**

  वेद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
- **प्रो. सत्यपाल तिवारी**

  हिन्दी विभाग, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह**

  सह-आचार्य, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
- **डॉ. गीता शुक्ला**

  एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभागाध्यक्ष

  भगवानदीन आर्यकन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुरखीरा (उ.प्र.)
- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार शाहू**

  सहायक आचार्य, साहित्य विभाग,

  संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

- **डॉ. आभा द्विवेदी**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
  सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर
- **डॉ. राजीव रंजन**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. विवेक शर्मा**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
  हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश
- **डॉ. देवराज**
  सहायक आचार्य, संस्कृत इक्डोल,
  हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय शिमला, हिमाचल प्रदेश
- **डॉ. हरिपद महापात्र**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
  साँकराइल अनिल विश्वास स्मृति महाविद्यालय झाडग्राम, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. प्रताप चन्द्र राय**
  सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
  सिधो-कानहो वीरसा विश्वविद्यालय पुरुलिया, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. रवि प्रभात**
  सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
  महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा
- **डॉ. शैलेन्द्र कुमार मिश्र**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **डॉ. विशाल श्रीवास्तव**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)
- **डॉ. अमित कुमार मिश्र**
  विभागाध्यक्ष, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग,
  जी.एन.एस. विश्वविद्यालय, जमुहार, सासाराम, विहार
- **श्री आदित्य प्रताप सिंह**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, शारीरिक शिक्षा विभाग,
  राजकीय महाविद्यालय पचवस बस्ती (उ. प्र.)
- **डॉ. रजनीश शर्मा**
  प्राचार्य, कंचन देवी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय
  एवं कंचन देवी कॉलेज ऑफ कम्प्यूटर साइंस भीलवाड़ा, राजस्थान
- **डॉ. परमेश कुमार शर्मा**
  सहायक आचार्य-शिक्षाशास्त्र विभाग,
  श्री लाल बहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नव देहली

समीक्षक समिति / निर्णायक मण्डल
(Review Committee/Referees Board)

- **प्रो. पी. के. साहू**
  पूर्व-आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. ई. एम. राजन**
  केन्द्रीय संस्कृतविश्वविद्यालयः, गुरुवायूर-परिसरः, तृश्शुर, केरलम्
- **प्रो. रमाकान्त पाण्डेय**
  निदेशक, मुक्तस्वाध्यायपीठ, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नई दिल्ली
- **प्रो. सुशील कुमार शर्मा**
  अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. उमाकान्त यादव**
  संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **प्रो. आमोदवर्धन कौण्डिन्न्यायन**
  वेद विभाग, वाल्मीकि विद्यापीठ, काठमाण्डू, नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी**
  एसो. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, देश बन्धु डिग्री कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित**
  संस्कृत विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म कॉलेज, नवाबगंज, कानपुर (उ.प्र.)
- **प्रो. अमूल्य कुमार सिंह**
  प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, का. सु. साकेत महाविद्यालय, अयोध्या (उ.प्र.)
- **डॉ. राजीव सिन्हा**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, श्रीकृष्ण महाविद्यालय,
  नदीया (कल्याणी विश्वविद्यालय), पश्चिम बंगाल
- **डॉ. सुदेव**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पाँच मुड़ा विश्वविद्यालय, बाँकुड़ा, पश्चिम बंगाल
- **डॉ. उमाकान्त प्रसाद**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, विश्वभारती, शान्ति निकेतन, पश्चिम बंगाल

परामर्शदात्री समिति (Advisory Committee)

- **डॉ. जी. गङ्गाधरन नायर**
  पूर्व डीन एवं प्रोफेसर, संस्कृत व्याकरण विभाग,
  श्री शङ्कराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी, केरल
- **प्रो. ए. पी. सच्चिदानन्द**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), राजीव गाँधी परिसर शृङ्गेरी , कर्नाटक
- **प्रो. लक्ष्मीनिवास पाण्डेय**
  प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), वेदव्यास परिसर बलहार, हिमाचल प्रदेश

- **प्रो. सुकान्त सेनापति**
  परीक्षा नियन्त्रक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. मनोज कुमार मिश्र**
  विभागाध्यक्ष, वेद विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मा. वि.), नव देहली
- **प्रो. सुरेश चन्द्र दुबे**
  पूर्व-आचार्य, अंग्रेजी एवं आधुनिक यूरोपियन भाषा विभाग,
  इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
- **श्रीमती प्रियंवदा काफ्ले**
  एसो. प्रोफेसर, इतिहास पुराण विभाग (वाल्मीकि विद्यापीठ),
  नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, नेपाल
- **डॉ. विजय शङ्कर द्विवेदी**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **डॉ. शिव कुमार मिश्र**
  प्रधानाचार्य, एस.एन. इण्टर कॉलेज इन्दईपुर, अम्बेडकरनगर (उ.प्र.)

नोट : शोधपत्र/शोधलेख का प्रकृति के अनुसार सम्पादक मण्डल एवं समीक्षक समिति में अन्य विषय विशेषज्ञों का सहयोग लिया जा सकता है। शोधपत्र दो या दो से अधिक विशेषज्ञों की समीक्षा के अनन्तर ही प्रकाशित किया जाएगा।

सम्पादकीय (Editorial)

मानवीय संवेदना के विविध पक्षों के माध्यम से अनुस्यूत एवं ईश्वर प्रदत्त भारतीय ज्ञान परम्परा सृष्टि के प्रारम्भ से ही अपनी महात्ता को बनाये हुए है। भारतीय ज्ञान परम्परा में प्राचीनकाल से ही जीवन के विविध पक्षों पर चिन्तन-मनन अनवरत् जारी था। इस परम्परा में हम सृष्टि, सृष्टि प्रक्रिया, ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा के साथ-साथ मानवीय जीवन के विविध पक्ष यथा - ज्ञान-विज्ञान, चिकित्सा, खगोलशास्त्र, वास्तुशास्त्र, कला, संगीत, काव्य-काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, व्याकरण, शिक्षा, मानवीय मूल्य, पर्यावरण संरक्षण आदि के सृजन, चिन्तन और इनके विस्तार में हमारे मनीषी अग्रसर रहे हैं। भारतीय ऋषियों एवं विद्वानों का चिन्तन केवल भारतीयों के लिए न होकर अपितु मानव कल्याण एवं वैश्विक जगत् के लिए था। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानती है। इसी को व्यक्त करते हुए ऋषि कहता है -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेद्॥

भारतीय ज्ञान परम्परा नित्य अपने चिन्तन और शोध के द्वारा नवीन ज्ञान का सृजन एवं मूल्याङ्कन में निर्मग्न रही है। जिसका विपुल भण्डार भारतीय वैदिक वाङ्मय एवं लौकिक वाङ्मय में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ वेद, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, दार्शनिकग्रन्थ, काव्य, नाट्य, गद्य, संगीत, व्याकरण, भाषा आदि का सूक्ष्म चिन्तन भारतीय शोध परम्परा का प्रकर्ष है। ऋषियों एवं कवियों ने सरस (सहज) भावाभिव्यक्ति में मानवीय मूल्यों की स्थापना पर बल दिया है। इसी क्रम में हमारा प्रयास है कि अपने प्राचीन ज्ञान की समीक्षा करते हुए उसको और अधिक जनोपयोगी बनया जाए, जिससे मोह-माया, भ्रष्टाचार की ओर अग्रसर होते वैश्विक जगत् को नवीन दिशा दी जा सके और लोगों में त्याग और मानवीय मूल्यों की स्थापना की जा सके।

'शोध नवनीत' शोध पत्रिका निरन्तर एक दशक से प्रकाशित हो रही है। इसका यह 21वाँ अङ्क (जुलाई-दिसम्बर 2023) आप सभी विद्वानों को समर्पित है। इस अङ्क में वैदिक, लौकिक साहित्य एवं मानविकी से संबन्धित समाचीन विचारों के साथ विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक विषयों को समाहित करने वाले संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा के चयनित शोधालेखों का संकलन किया गया है। ये आलेख अपने विषय के प्रतिपादन के साथ ही नवीन शोध के प्रेरक भी हैं। अतः इनका पठन, मनन आदि शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपादेय है। प्राच्यज्ञान को संरक्षित एवं प्रकाशित करने वाली वर्तमान शोध को वैश्विक पटल पर ले जाने के लिए अनवरत प्रयत्नशील यह पत्रिका आपके सफल अनुसन्धान की सहगामिनी और प्रेरिका के रूप में सदैव आपके साथ है। **'चरैवेति चरैवेति'** इस परम्परा का सम्यक् निर्वाह के लिए अपने 'शोध-नवनीत' के सुधी पाठकों/लेखकों एवं सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

सादर।

प्रधान सम्पादक/सम्पादक

विषयानुक्रमणिका
(CONTENTS)

- **वैदिकवाङ्मयस्य आलोके सरस्वतीस्वरूपम्** 01
  नरेन्द्रकुमारपाण्डेयः
- **वैदिककालीनशिक्षाविमर्शः** 06
  डॉ. प्रताप-चन्द्र-रायः
- **जानकीहरणमहाकाव्ये कुमारदासस्य रचनारीतिः – एकं परिशीलनम्** 13
  डॉ. प्रीतम-मण्डलः
- **आधुनिकयुगे सूर्योपासनायाः वैशिष्ट्यम्** 21
  डॉ. सस्मिता वारिक
- **उपदेशेऽजनुनासिक इत्[1] सूत्रस्य नियम्यनियामकभावविमर्शः** 26
  अनुश्रुतिः दुबे
- **श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रिगुणविमर्शः** 29
  डॉ. गुंजन गर्गः
- **स्त्रीणां स्थानं तेषां आन्दोलनस्य भूमिका च** 35
  तुशि चक्मा
- **भारतीय ज्ञानपरम्परा में आर्थिक चिन्तन के सूत्र : एक विश्लेषण** 41
  डॉ. अनूप कुमार अत्रेय, डॉ. आशुतोष पारीक
- **ऋग्वैदिक सामाजिक व्यवस्था में पितृसत्तात्मक स्वरूप : एक ऐतिहासिक अध्ययन** 49
  डॉ. बीना कौशिक
- **समकालीन समाज में गीता के कर्म की महत्ता** 56
  डॉ. अमिता वैश्य
- **प्राचीन भारतीय कर व्यवस्था** 59
  डॉ. अर्चना त्रिपाठी

- **श्रीमद्भागवत महापुराण का भौगोलिक वैशिष्ट्य** **63**
  गोपाल कृष्ण
- **संस्कृत नाटकों में नारी चित्रण** **68**
  निर्मला
- **महाकवि कालिदास की अभिनव नाट्य कल्पना : 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के परिप्रेक्ष्य में** **74**
  प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित
- **कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में राज्य के स्वरूप में सप्त प्रकृतियों की अवधारणा में अमात्य की भूमिका** **80**
  प्रो. ज्योति देवल
- **राष्ट्रीय शिक्षा नीति : उच्च शिक्षा में प्रतिमान परिवर्तन** **87**
  डॉ. प्रेरणा दाधीच
- **'धनुष-बाण' प्राचीन भारतीय योद्धाओं का प्रमुख हथियार : एक अध्ययन** **93**
  डॉ. स्मिता पाण्डेय
- **Construction of A Rectilinear *Śyenacit*** **103**
  Moumita Mondal
- **Practice of Rejuvenation in Ancient Indian Medical Science : A Study** **107**
  Dr. Avijit Mandal
- **Similarities between Russian and Sanskrit languages : A linguistic analysis** **112**
  Utkarsh Dixit
- **कृषक जीवन आधारित उपन्यासों में शोषण की समस्या** **117**
  रीना चौधरी, प्रो. अनूप सिंह
- **डॉ. श्रीराम परिहार के ललित निबंधों में संस्कृति, प्रकृति और लोक विश्वास** **122**
  सीता मीणा, डॉ. राजेन्द्र कृष्ण पारीक
- **निराला और नागार्जुन के काव्य में व्यंग्यात्मकता** **128**
  मुकेश कुमार यादव

- **साहित्य में समाजवादी चेतना** **134**
  नरेन्द्र सिंह, डॉ. रेखा चौधरी
- **प्रेमचन्द साहित्य की दशा और दिशा** **140**
  सुनीता जाट
- **श्रीराम परिहार के ललित निबंधों में चित्रित लोकगीतों का अनुशीलन** **145**
  सुमन कुमारी, प्रो. (डॉ.) प्रभा शर्मा
- **आदिवासी जीवन में पर्यावरणीय चेतना : ग्लोबल गाँव के देवता** **150**
  डॉ. राजेश कुमार गर्ग, अभिषेक तिवारी
- **सिद्धार्थनगर जनपद में ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का मूल्यांकन** **154**
  डॉ. विकास कुमार
- **शस्य गहनता एवं भूमि उपयोग क्षमता : सिद्धार्थनगर जनपद का एक भौगोलिक अध्ययन** **159**
  अनिकेत कुमार

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. - 2023

वैदिकवाङ्मयस्य आलोके सरस्वतीस्वरूपम्

नरेन्द्रकुमारपाण्डेयः*

भारतीयपरम्परायां सरस्वत्याः विशिष्टं स्थानम्। वैदिकवाङ्मये सरस्वत्याः मुख्यतः अस्माभिः नदी वाग्देवता चेत्यनयोः रूपेण वर्णनं प्राप्यते। वस्तुतः सरस्वती वैदिकवाङ्मये एका नदी देवी (ऋग्वेद, ६.४९.७), अपरा नदीभिः सह एकं नाम (ऋग्वेद, १०.७५.५), अन्यया देव्या (ऋग्वेद, १.३०.८.) इडया भारत्या च सह अपि (ऋग्वेद, २.३.८) प्रयुज्यते। यजुर्वेदे सरस्वत्याः नामविभिन्नेष्वर्थेषु प्रयुज्यते यथा– सरसः प्रशंसिता ज्ञानादयो गुणा विद्यन्ते यस्यां सा सर्वविद्या प्रापिका वाक्, विज्ञानवती स्त्री (यजुर्वेद, २१.४९) प्रशस्तं सरो विज्ञानं विद्यते यस्याः सा (विदुषी स्त्री) (यजु., १९.८३), प्रशस्तज्ञानयुक्ता पत्नी (यजु. १९.८२) योगिनी स्त्री (यजु. १९.९३), विदुषी शिक्षिता माता (यजु., २०.६४), शास्त्रविज्ञानयुक्ता वाक् (यजु., २०.५५), विद्या सुशिक्षिता वागिव पत्नी (यजु., १०.३४), विज्ञाननिमित्ता स्त्री (यजु., २१.५१) प्रशस्तबोधः शिक्षायुक्ता वाणी (यजु., १८.१६), प्रशंसिता गृहिणी तथा पुरुषः (यजु. २०.५९), सुसंस्कृता वाक् (यजु. २०.८४) इत्येभिः स्पष्टं भवति यत् वेदेषु सरस्वतीसर्वत्र सुशिक्षित वाक्, विद्यायाः अधिष्ठात्री अथ च नदीरूपेण प्रयुक्ता।

इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधेवितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।।

(ऋग्वेदः, १०.७५.५)

अस्याः ऋचः आधारेण नाना पावगी अलिखत् यद् इन्द्रः वृत्रं वज्रेण हत्वा सप्तसिन्धून् मुक्तीकृतवान्। अथर्ववेदे 'यो हित्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्' (अथर्ववेद, २०.३४.३) तथा अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून् (अथर्ववेद, २०.९१.१२) इत्यनेन आधारेण इन्द्रः वृत्रं हत्वा सप्तनदीः मोचितवान्। सप्त सिन्धून् पदस्य व्याख्यायां सायणस्तु 'गङ्गाद्यानद्यः अर्थः कृतः। अत्र मन्त्रे तु नदीनाम् उल्लेखः विद्यते। सप्त नद्यः काः मन्येरन्निति विवादितविषयः। सम्पूर्णानन्दे गंगा, यमुना, मरुद्वृधा इत्येताः विहाय सप्तनदीनां विषये तावत् कथ्यते। वस्तुतः सप्तसिन्धुप्रदेशः नैव निश्चितः। सायणस्तु नदीपरकम् अर्थं प्रत्यपादयत् किन्तु अनन्तरं सेनापरकः अर्थः – गंगेति लक्ष्यं प्रति गच्छन्ती, यमुना – नियमानां व्यवस्थायाश्च रक्षित्री, सरस्वती – जल इत्यादीनाम् आवश्यकसामग्रीणां प्रापयित्री, शुतुद्री – सामग्रीसंभरणार्थं तीव्रयानैः सुसज्जितानां यन्त्रोपकरणानां सेना इत्येतान् अर्थान् प्रतिपादितवान्।

अस्यैव मन्त्रस्य अध्यात्मपरकोऽर्थः – गंगे यमुने– हे इडे हे पिङ्गले, शुतुद्रि परुष्णि सरस्वती – हे शुतुद्री तथा परुष्णी नामाभिधेया सुषुम्ना नाडी, मे इमं स्तोमम् आसचत – त्वं मदीयं परमेश्वरस्तवनं सेवस्व! मरुद्वृधे अस्तिक्या– हे सुषुम्ने त्वं पिङ्गलया सह, आर्जीकीये वितस्तया सुषोमया– हे इडे त्वं वितस्ता

* सहायकाचार्यः, संस्कृत–विभागः, हिमाचलप्रदेशकेन्द्रियविश्वविद्यालयः, धर्मशाला, हिमाचलप्रदेशः

नामाधेया सुषुम्नया सह मिलिता, आणुहि – मदीयं परमेश्वर स्तवनं शृणोहि। शिवस्वरोदये उक्तमंत्रस्य अध्यात्मपरकः अर्थः अनेन प्रकारेण वर्णितः लभ्यते –

नाभिस्थानगकन्दोर्ध्वमंकुरादेव निर्गता द्विसप्ततिः,
सहस्त्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः।।३२।।
तासां मध्ये दश श्रेष्ठा दशानां तिस्त्र उत्तमाः।
इडा च पिङ्गला चैव सषुम्णा च तृतीयका।।३६।।
गान्धारी हस्ति जिह्वा च पूजा चैव यशस्विनी।
अलम्बुषा कुहुश्चैव शंखिनी दशमी तथा।।३७।।
इडा पिङ्गला सुषुम्णा प्राणमार्ग व्यवस्थिता।।४१।।

नाभिस्थानगतकन्दात् उपरि अंकुरः इव ७२००० संख्याकाः नाड्यः याः समग्रे शरीरे व्यवस्थिताः। तासु दश सर्वोच्चाः अथ च तासु दशस्वपि इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा इत्येताः तिस्त्रः उत्कृष्टाः। शेषाः सप्त– गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूजा, यशस्विनी, अलम्बुष, कुहू, शंखिनी च। उक्तग्रन्थे –

इडा गंगेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वती विद्यात्प्रयागादि समस्तथा।।

एतन्नाम – इडा–गंगा, पिङ्गला – यमुना अथ च द्वयोर्मध्ये संगमस्थलमेव प्रयागः। यदि वेदस्य शब्दाः यौगिकाः मन्यन्ते तर्हि ते जनस्य स्थानविशेषस्य च संकेतः नदीपरकः तस्यां दशायां अस्यार्थः– गंगा – उत्तमा गतिं गच्छन्ति अनया इति गंगा– अस्यां नाड्यां प्राणान् वशीकृत्य योगी उत्तमगतिं प्राप्नुवन्ति। यमुना– पूरकप्राणायामेन प्राणान् आत्मनि सम्मेलयन्ती शरीरे गतिं कुरुते। अनेन नाडीगतेन अभ्यासेन योगी चित्तस्थिरतां प्राप्नुवन्ति। सरस्वती–सरसजलवती गच्छति वहति वा – प्रशस्तरसवती सुषुम्णानाडी सरस्वती कथ्यते। वेदेष्वपि अनेकेषु मन्त्रेषु सरस्वती प्रशस्तरसवती मता।

ऋग्वेदे सरस्वती अनेकस्थलेषु उल्लिखिता। क्वचित् देवीरूपेण, नदी , क्वचिच्च विश्वरूपेति। सप्तममण्डलीये ९५ तमे अथ च ९६ तमे सूक्ते विशिष्टरूपेण एतत् स्वरूपं प्रकाशितम्।

एषा ऋग्वेदीया एका प्रमुखा नदी। या आधिक्येन वेगवती शक्तिशालिनी च मता– एषा सरस्वती नदी सर्वाधारम् उदकम् आधृत्य वहति। तस्याः अस्माभिः संरक्षणं प्राप्यते। वेगवत्प्रवाहयुक्तासरस्वती अन्याः सर्वाः नदीः पृष्ठे कृत्वा अग्रे वर्धते काचित्वेगवति रथे समारूढा देवता इव।[१] एषा नदी स्वीयबलशालिभिर्लहरीभिः शिखराणि मृणालमिव त्रोटयति।[२] एषा स्वीयैः शब्दैः पृथ्वीम् आकाशं च पूरयति।[३] एषा च नदीषु सर्वश्रेष्ठा उच्यते– **अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वती।**[४]

वाजसनेयीसंहितायां मरुतां पत्नी कथिता– सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं विभर्ति।[५] सरस्वती वाक्, अन्नं सोमश्चापि कथ्यते – वाग् वै सरस्वत्यन्नं सोमस्तमाद्यो वाचा प्रसाभ्यन्नादो इव भवति।[६] वाजसनेयीसंहितायां सरस्वत्यां पञ्चनदीनां सम्मेलनम् अथ च स्वयं सरस्वत्याः पञ्चशाखानां च उल्लेखः प्राप्यते –

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्त्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्।।[७]

ताण्ड्यब्राह्मणे सरस्वती पश्चिमदिशम् अभिमुखम् उह्यमान-नदीरूपेण उल्लिखिता- **प्रत्यङ्मुखी खलु सरस्वती प्रवहति।**[८] ऋग्वेदे अस्याः नद्याः पर्वतान्निसृत्य समुद्रे पततीति विवेचनं प्राप्यते- ''**एका चेत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यति गिरिभ्य आ समुद्रात्।**''[९] नद्येषा सिरमौरस्य पर्वतेभ्यः निसृत्य अलबद्रीनामके स्थाने प्रकटिता। चालौरनामके स्थाने लुप्ता। पुनः भवानीपुरे प्रकटिता सती बालछप्परनामके स्थाने लुप्ता। पुनः बडाखेडानामके स्थाने प्रकटीभूय पेहोवायाः समीपे उरनीनामके स्थाने मारकण्डायां मिलिता। अथ च घग्घरनामिकायां नद्यां सम्मिलिता। महाभारते सरस्वती यत्र लुप्ता तत् स्थानं विनशन इति कथ्यते।[१०] निषादान् प्रति द्वेषकारणेन सरस्वती अत्र पृथ्व्यां प्रविष्टा।[११] ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सरस्वतीविनशने यज्ञः सम्पन्नः इत्यपि उल्लेखो विद्यते।[१२]

कुरुक्षेत्रे उह्यमाना सरस्वती नदी प्रतीची प्राची इत्युभयविधनाम्ना स्मर्यते। कुरुक्षेत्रम् आप्लावयनात् परम् एषा नदी पश्चिमाभिमुखी जाता।[१३] वामनपुराणस्य भागवतमहापुराणस्य च अनुसारं पृथूदकस्य (पेहोवा) समीपं सरस्वती नदी पूर्वाभिमुखा अभूत्। प्रतिहारराज्यस्य भोजप्रथमस्य पेहोवास्थेन शिलालेखेन ज्ञायते यत् नदी पेहोवातः या वहति सा प्राची सरस्वती। महाभारते पुराणेषु च सरस्वत्याः विभिन्नप्रकारेण स्तुतिः कृता वर्तते। अस्य तटे वासः अत्यन्तम् आनन्ददायकः। सरस्वतीं सेवित्वा स्वर्गं गताः मानवाः सदा सरस्वतीं स्मरिष्यन्ति।[१४]

सरस्वती सर्वासु नदीषु पुण्यशालिनी। सरस्वतीं सेवित्वा जनः इहलोके परलोके च कुकृत्यानि प्रति नैव शोचन्ति।[१५] वामनपुराणे सरस्वती विष्णुजिह्वा कथिता।[१६] स्कन्दपुराणे ब्रह्मपुत्री बोधिता। सर्वप्रथमं सरस्वती मानवीरूपेण वामनपुराणे उल्लिखिता –

हंस कुन्देन्दु संकाशं बालव्यजनमुत्तमम्।
सरस्वती सरिच्छ्रेष्ठा गजारूढा समादधे।।

(वामनपुराण, २७.१२)

महाभारते पुराणेषु च सरस्वत्याः उद्गमस्रोतः प्लक्षवृक्षः उदीरितम्।[१७] प्लक्षवृक्षमूले स्थित्वामार्कण्डेयेन ऋषिणा कुरुक्षेत्रे सरस्वतीम् आनेतुं स्तुतिर्विहिता तदा एषा कुरुक्षेत्रे प्रविष्टा।[१८]

सरस्वत्याः रूपद्वयं वैदिकसरस्वती अनन्तरकालीना सरस्वती च। मैक्समूलरः द्वयमपि मनुते। एषा पञ्चनदस्य पश्चिमीसीमानं विनिर्माति। विभिन्नमतेषु दृष्टिपातेन एषा कुरुक्षेत्रे एव वहतीति सिद्ध्यति।

यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे पञ्च नदीनाम् उल्लेखः प्राप्यते। अस्य आधारेण विद्वान् वेदे पंजाब एतन्नाम प्रदेशविशेषस्य वर्णनं मनुते।

पञ्चनद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्।।

(यजुर्वेदः, ३४.११)

एतन्नाम पञ्च नद्यः स्वीयस्त्रोतोभ्यः सरस्वतीं प्रति यान्ति। सा सरस्वती पञ्चभिः प्रकारैः तस्मिन् देशे वहति।

एतत् सर्वविदितं यत् सरस्वती नाम्ना नदी पंजाबे न वहति नैव च पञ्च नद्यः सरस्वत्यां पतन्ति। सरस्वती पञ्चसु धारास्वपि नैव वहति। विद्वद्भिः मन्त्रेषु आगतानि नामानि प्रातिपदिकानि मत्वा

यौगिकप्रक्रियानुसारं मन्त्रार्थेन ज्ञापितं यत्तस्यां पञ्चभिः ज्ञानेन्द्रियैः प्राप्तं ज्ञानम् अथवा मनसः पञ्चवृत्तीनां स्मृतौ स्थित्वा वाण्या अनेकाभिः विधाभिः अभिव्यक्तिः उल्लिखिता।[१९]

सरस्वत्याः उपर्युक्तविवेचनस्य समीक्षा डॉ. राजबली पाण्डेयः अनेन प्रकारेण विहितायत् – 'सर्वप्रथमम् ऋग्वेदे सरस्वती पवित्र नदी क्रमशः नदी देवता, वाग्देवता इत्येतैः रूपैः वर्णिता। सरस्वती मूलतः शुतुद्री (सतलज) इत्यस्याः एका सहायकनदी। यदा शुतुद्री स्वमार्गं परिवर्त्य विपाशायां (व्यास) मिलिता सरस्वती तस्याः पुरातनपरिवृते उह्यमाना आसीत्। एषा राजस्थानस्य समुद्रे सम्मिलति स्म। महती वेगवती नदी इत्यनेन रूपेण अस्याः वर्णनं प्राप्यते। यस्याः तटे राजानः वसन्ति, यजन्ति मंत्रान् च गायन्ति स्म। सरस्वती अद्यत्वे घग्घर इतिनाम्ना व्यवह्रियते। सरस्वतीदृषद्वत्योर्मध्यवर्ती प्रदेशः ब्रह्मावर्तः। यश्च वैदिकज्ञानाय कर्मकाण्डाय प्रसिद्धः। सरस्वती देवीरूपेण ऋग्वेदे कल्पिता या पवित्रतां, शुद्धिं, समृद्धिं, शक्तिं च प्रददाति। अस्याः सम्बद्धता अन्याभिर्देवताभिः, इन्द्रेण मरुद्भिः सह बोधिता। बहुषु सूक्तेषु सरस्वत्याः सम्बद्धता यज्ञीयदेवताभिः इडा, भारती इत्येताभिः सह युक्ता। पूर्वं भारती सरस्वतीतः अभिन्ना मता।

पूर्वं तु सरस्वती नदी, देवता परन्तु ब्राह्मणकाले[२०] तस्याः वाक् (वाग्देवता) इत्यस्मात् अभेदः मतः। परवर्तिनि काले तु सा विद्यायाः कलायाश्च अधिष्ठात्री देवी अभूत्। पुराणेष्वपि सा ब्रह्मपुत्री मता।[२१]

निष्कर्षः– कथयितुं शक्यं यत् सरस्वत्याः इतिहासोऽत्यन्तं रहस्यमयः। अद्यापि अनेके विद्वांसः, पुरातत्त्वविभागश्च तद्रहस्योद्घाटने लग्नाः। यस्यां नद्याम् अपारजलराशिः आसीत् सा महावेगवती सहसा कथं लुप्ता। यस्याः तटे सततं साधना, यज्ञः तपस्या च भवति स्म, सा अद्य अनुसन्धातुं विषयत्वेन समुपस्थिता। वेदेषु, ब्राह्मणग्रन्थेषु, पुराणेषु, महाभारते, रामायणे, लौकिके संस्कृतसाहित्ये अन्यविधासु च यस्याः विस्तृतं सारगर्भितं विवेचनं प्राप्यते। सा सरस्वती अद्यापि गवेषणायाः जिज्ञासायाश्च विषयत्वेन जाता।

सन्दर्भाः

१. प्रक्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।
प्रबावधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्या।। ऋग्वेदः, ७.९५.१

२. इयं शुष्पेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरुर्मिभिः।। ऋग्वेदः, ६.६.१२

३. आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम् सरस्वती निदस्पातु।। ऋग्वेदः, ६.६.११

४. अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वती। ऋग्वेदः, २.४१.१६

५. सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति। वासं. १९.९४

६. वाग्वैसरस्वत्यन्नं सोमस्तमाद्यो वाचा प्रसाभ्यन्नादी हेव भवति। वा.सं., १९.१२, शतपथब्राह्मण, ३.९.११९

७. वा.सं., ३४.११

८. ताण्ड्यब्राह्माण, २५.१२.१९

९. ऋग्वेदः, ७.९५.२

१०. ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः। गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती।। वनपर्व, ८१.११८

११. द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां द्वेषात्सरस्वती। प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः।। वनपर्व, १३०.४

१२. सरस्वत्या विनशने दीक्षन्ते। ताव. ब्रा. २५.१०.१

१३. कुरुक्षेत्र समाप्लाव्य प्रयाता पश्चिमां दिशाम्।। वामन सरो., १२.१.२

१४. सरस्वतीवास समा कुतो रतिः सरस्वती वास समा कुतो गुणाः।
सरस्वतीं प्राप्य दिवं गता जनाः सदा स्मरिष्यन्ति नदीं सरस्वतीम्।। शल्य., ५४.३८

१५. सरस्वती सर्वदीषु पुण्या सरस्वती लोकशुभापरा सदा।
सरस्वतीं प्राप्य जनाः सुदुष्कृतं सदा न शोचन्ति परत्र चेह च।। शल्य., ५४.३९

१६. एवं स्तुता तदा देवी विष्णोर्जिह्वा सरस्वती।। वामन., ३२.३३

१७. प्लक्षादेवी सुता राजन् महापुण्या सरस्वती। वनपर्व, ८१.७

१८. (क) तस्मिन् प्लक्षे स्थितां दृष्ट्वा मार्कण्डेयो महामुनिः।
प्रणिपत्य तदा मूर्ध्ना तुष्टावाथ सरस्वतीम्।। वामन., ३२.५
(ख) नदी प्रवाह संयुक्ता कुरुक्षेत्रं विवेश ह।। नारदीयपुराण, २.६४.१७-१८

१९. वेदमीमांसा, आचार्यः लक्ष्मीदत्तदीक्षितः।

२०. शतपथब्राह्मण, ३.९.१ तथा ऐतरेयब्राह्मणः, ३.१

२१. हिन्दूधर्मकोशः, डॉ. राजबलीपाण्डेयः।

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

वैदिककालीनशिक्षाविमर्शः

डॉ. प्रताप-चन्द्र-रायः*

कस्यापि राष्ट्रस्य देशस्य समाजस्य चोन्नतिः खलु शिक्षाश्रिता भवति। शिक्षा एव तस्य देशस्य राष्ट्रस्य वा विकासस्य केन्द्रविन्दुर्भवति। देशस्य सभ्यता संस्कृतिश्च शिक्षाया उत्कर्षे सन्निहिता जायते। देशवासिनः शिक्षया एव स्वसंस्कृतेः सभ्यतायाश्च संरक्षणं कर्तुं शक्नुवन्ति। अतो यस्य देशस्य यादृशी शिक्षाव्यवस्था भवति तस्य देशस्य निर्माणं तादृशं भवति। संसारेऽस्मिन् प्राणिषु मनुष्यजीवनन्तु श्रेष्ठतरं जीवनं वर्तते। मनुष्यो यत्कर्म कर्तुं शक्नोति तदितरः कोऽपि जीवः कर्तुं नार्हति। चिन्तन-मनन-निदिध्यासन-विवेक-विश्वशान्ति-आत्मिकशान्तीत्यादीनि कार्याणि केवलं मनुष्य एव कर्तुं शक्नोति, न तु अन्यो जीवः। तस्मै मनुष्यजीवनाय शिक्षायाः महती आवश्यकता वर्तते। शिक्षाशून्यं मानवजीवनन्तु जीवनं न भवति, अपि तु भारभूतं निरर्थकञ्च भवति। मानवजीवने शिक्षायाः अतीव महत्त्वं विद्यते। तस्मात् कारणात् कश्चन अपि तादृशो मनुष्योऽद्यत्वे न वर्तते यः शिक्षामन्तरेण जीवनम् अनायासेन सहजतया च यापयति। जीवने कापि समस्या काठिन्यञ्च समायाति चेन्मनुष्योऽनुभवजन्यज्ञानोन्मुखी भूत्वा सानन्दं च तां समस्यां समाधातुं यतते। परिवारे प्रत्येकं शिशोर्बालकस्य युवकस्य च भाविजीवनस्य उन्नतिस्तु शिक्षाश्रिता भवति। अत एव शिक्षा एव कस्यापि समुन्नतस्य देशस्य समाजस्य परिवारस्य मनुष्यस्य च प्राणभूता भवति। संसारेऽस्मिन् व्यक्तिस्तु लघुः इकाई (Unit) वर्तते। ततो बृहद् इकाई परिवारो वर्तते। परिवारतश्च समाजः, समाजतश्च देशः, देशतश्च विश्वं वर्तते। अतो व्यक्तिः शिक्षितो भवति चेद् विश्वं स्वत एव शिक्षितं भवति। अतो वैयक्तिकजीवने शिक्षायाः महत्त्वं प्रासंगिकत्वञ्च वैदिककालादेव आसीत्। वस्तुतस्तु भौतिकरूपेण पारमार्थिकरूपेण च शिक्षायाः रूपद्वयं विद्यते। वैदिककाले भौतिकपारमार्थिकयोरुभयोः शिक्षयोः चर्चा आसीत्। किन्तु सम्प्रति वर्तमानकाले सर्वकारेण विद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च विद्यार्थिभ्यो यच्छिक्षा प्रदीयते तत्तु केवलं भौतिकशिक्षा एव। अत एव वर्तमानसमये वैदिकशिक्षायाः अतीव प्रासङ्गिकत्वं विद्यते। यत्तु शोधपत्रस्यास्य मुख्यतया विवेच्यं वर्तते।

तत्र शिक्षाशब्दः 'शिक्ष् विद्योपादाने' धातोः 'गुरोश्च हलः' इति पाणिनिसूत्रेण[१] 'अ' प्रत्ययाच्च निष्पन्नो भवति। विद्याग्रहणमिति तस्य सामान्योऽर्थो भवति। संस्कृतसाहित्ये शिक्षाशब्दस्य पर्यायरूपेण विद्या-बुद्धि-ज्ञानादीनां शब्दानामपि प्रयोगो दरीदृश्यते। विद्या इयं मनुष्यस्य चक्षुरूपेण[२] मोक्षस्य च साधनरूपेण[३] विद्यते। ज्ञानशब्दोऽपि मनुष्यस्य तृतीयनेत्ररूपेण वर्णितः। अतः केनापि कविना सम्यगुक्तं ज्ञानं तृतीयं मनुष्यस्य नेत्रमिति। मनुष्यस्य सच्छिक्षा सद्बुद्धिश्च कामधेनुरूपेण कथिता।[४]

वैदिकशिक्षाव्यवस्थायाः यथार्थं स्वरूपं तैत्तिरीयोपनिषदि संलक्ष्यते। तत्र शिक्षायाः प्रारम्भः सन्धिद्वारा भवति। कुतो हि सन्धिना एव ज्ञानमुत्पद्यते। सन्धिशब्दस्यार्थो भवति वर्णानां मेलनम्। यथा वर्णद्वयस्य

* सहायकाध्यापकः, संस्कृतविभागः, सिधो-कानहो-वीरसा-विश्वविद्यालयः, पुरुलिया, पश्चिमबङ्गः

मेलनेन तृतीयं वर्णं सन्धिरूपेणोत्पद्यते अथवा यथा मातुः पितुश्च मेलनेन सन्तानं सन्धिरूपेणोत्पद्यते तथैव आचार्यशिष्ययोर्मेलनेन विद्या सन्धिरूपेणोत्पद्यते। तत्र सन्धिपदेन संहिताप्युच्यते। संहितायां पूर्वरूप-उत्तररूप-सन्धि-सन्धानरूपेण भागचतुष्टयं विद्यते। तेन भागचतुष्टयेन वैदिककालादद्यावधिपर्यन्तं शिक्षाव्यवस्था नितरां प्रचलति। यथोच्यते- ''**आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानमिति।**''[५] अर्थात् शिक्षाव्यवस्थायां पूर्वरूपत्वेन आचार्यस्य खलु आद्यस्थानं ततः शिष्यस्य उत्तररूपत्वेन द्वितीयम्। तयोर्द्वयोर्गुरुशिष्ययोर्मेलनभूतस्य विद्यायाः सन्धिरूपेण तृतीयं स्थानम्। सन्धानरूपेण आचार्यस्य प्रवचनस्य चतुर्थं स्थानं वर्तते। तेन आचार्य-अन्तेवासि-विद्या-प्रवचनरूपेण भागचतुष्टयेण शिक्षा सम्पूर्णतामाप्नोति। अत्र विशेषरूपेण ध्यातव्यं यद् वैदिककालीन-ऋषिणा तत्र मन्त्रे गुरोः कृतेऽध्यापक-उपाध्याय-गुरु-शिक्षक-टीचर-प्रोफेसर-आदीनां शब्दानां प्रयोगं न कृत्वा 'आचार्यः' इति शब्दः प्रयुक्तः। कुतो हि आचार्यः स भवति य आचारं ग्राहयति। अर्थाद् यः शिष्याय सदाचारस्य शिक्षां ददाति। अनेन ज्ञायते यद् वैदिककाले सदाचारस्य अतीव महत्त्वमासीत्। अतः 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यनेन वसिष्ठेणापि सदाचारस्य माहात्म्यं प्रतिपादितम्।[६] सदाचारप्रदानस्य सामर्थ्यमाचार्यं व्यतिरिच्य शिक्षक-गुरु-प्रोफेसर-उपाध्यायादिशब्देषु न दृश्यते, यत्तु अस्माभिः सम्प्रति प्रतिदिनं समाचारपत्र-दूरदर्शनादिषु प्रत्यक्षरूपेण दृश्यते एव। तस्मात्तत्र 'आचार्यः' इति शब्दः प्रयुक्तः। एवमेव शिष्यस्य कृतेऽपि छात्र-विद्यार्थी-शिष्य-स्टुडेण्ट-आदीनां शब्दानां प्रयोगं न भूत्वा 'अन्तेवासी' इति शब्दः प्रयुक्तः। तत्र अन्तेवासीशब्दस्यार्थो भवति य आचार्यस्य अन्तःकरणेऽर्थात् हृदि वसति सोऽन्तेवासी। छात्र-स्टुडेण्ट-विद्यार्थी-शिष्यादिषु शब्देषु तादृशो भावो न दृश्यते। तस्मात्तत्र अन्तेवासीशब्दः प्रयुक्तः। अनेन आचार्यान्तेवासीशब्दद्वयेन तयोर्द्वयोर्मध्ये पितापुत्रवत् गम्भीरसम्बन्धः संदृश्यते। एतदेव वैदिकशिक्षायाः महत्त्वं विद्यते। वर्तमानसमये तादृशः सदाचारः आचार्योऽन्तेवासी शिष्यश्च प्रायशो न संलक्ष्यते। तयोर्द्वयोर्मध्ये तादृशः पितापुत्रवत् सम्बन्धोऽपि न दृश्यते। अतो वर्तमानसमये वैदिककालीनशिक्षायाः अतीव आवश्यकता वर्तते।

तैत्तिरीयोपनिषदः पूर्वं संहिताकालेऽप्यथर्ववेदे शिष्यस्य अन्तेवासीरूपेण वर्णनं समुपलभ्यते। तन्मन्त्रानुसारमन्तेवासी ब्रह्मचारीरूपेण आचार्यस्य उदरे त्रिरात्रिपर्यन्तं निवसति। यथाम्नातम् -

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।[७]

मन्त्रेऽस्मिन्नपि गुरुशिष्ययोर्मध्ये पितापुत्रवत् गभीरसम्बन्धो दरीदृश्यते। आचार्यो यदा ब्रह्मचारिणं शिष्यरूपेण समीपे निवासयति तदा स तं स्वकीयेऽन्तःकरणे करोति। अर्थात् स्वहृदये स्थापयति। 'गर्भमन्तः' इत्यस्य पदस्य तात्पर्यं भवति आचार्यः शिष्यस्य कृते किमपि ज्ञानं न जुगुप्सते। आचार्यः केनापि प्रकारेण शिष्यं प्रति छलकपटं न करोति, अपितु शिष्यस्य सर्वाङ्गीणविकासं करोति। शिष्योऽपि गुरुं प्रति कदापि केनापि प्रकारेण द्रोहं न करोतीत्यर्थः। तदनन्तरं तत्र 'त्रीणि दिनानि' इत्यनेन दिनत्रयस्य उल्लेखं न कृत्वा ऋषिणा 'तिस्रः रात्रीः' इत्यनेन शब्देन रात्रित्रयस्य उल्लेखः कृतः। रात्रिशब्देन अन्धकारो बोध्यते। अन्धकारस्तु अज्ञानस्य बोधको भवति। रात्रित्रयेण त्रिविधमज्ञानमुच्यते। अतो रात्रित्रयात्मकगुरुसमीपे निवसत्वात् त्रिविधमज्ञानं दूरीभवति। त्रिविधेष्वज्ञानेषु प्रथमं तावत् स्थूलसूक्ष्मसृष्टिविषयकम् अज्ञानं भवति, द्वितीयन्तु आत्मविषयकम् अज्ञानं तृतीयञ्च अनात्मविषयकम् अज्ञानं भवतीति श्रीपाददामोदर-

सातवलेकरमतम्।[८] अज्ञानत्रयस्य दूरीकरणमेव वैदिकशिक्षायाः उद्देश्यमासीत्। एतद् व्यतिरिच्य रात्रित्रयस्य उल्लेखः कठोपनिषदि अपि संलक्ष्यते।

तिस्त्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिर्नमस्यः।[९]

तत्र नचिकेतसमुद्दिश्य आचार्यो यमः कथयति त्वं नमस्कारयोग्यो ब्राह्मणोऽतिथिर्मे गृहे रात्रित्रयं न्यवसत्। अतः त्रीन् वरान् वृणीष्व। तदनु नचिकेतसा पितृशान्ति-अग्निविद्या-आत्माज्ञानरूपेण वरत्रयं याचितम्। कठोपनिषदि नचिकेतसः गुरोर्नाम यमो विद्यते। अथर्ववेदस्य ब्रह्मचारीसूक्तेऽपि ब्रह्मचारिणो गुरोर्नाम मृत्युः वर्तते।[१०] इत्थमथर्ववेदस्य ब्रह्मचारीसूक्तेन सह कठोपनिषदः सम्बन्धो विद्यते।

पाठ्यक्रमः

वैदिककाले पराविद्या-अपराविद्याभेदेन विद्याद्वयस्य अध्ययनमध्यापनं च भवति स्म। अतो मुण्डकोपनिषदि **''द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च''** इत्येवं वचनं समुपलभ्यते।[११] तत्रापराविद्यारूपेण वेदचतुष्टयेन समं वेदाङ्गान्यपि समुल्लिखितानि सन्ति। तद्यथा - **''तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।।''**[१२] तदनन्तरं यया विद्यया ब्रह्मविद्यायाः तत्त्वज्ञानं भवति सा परा विद्येति। तस्याः पराविद्यायाः वर्णनमपि वेदेष्वेव वर्तते। तद् व्यतिरिच्य छान्दोग्योपनिषदि अपि अपराविद्यायाः अन्तर्भूतानां ग्रन्थानां नामानि नारदवाक्येन सविशदं समुपलभ्यन्ते। **''ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि''** इति।[१३] इमे सर्वे ग्रन्थाः पाठ्यपुस्तकरूपेण अपराविद्यारूपेण पराविद्यायाः साधनरूपेण च वर्णिताः सन्ति। एतेषां ग्रन्थानामध्ययनेन जनाः मन्त्रविदस्तु भवितुं शक्नुवन्ति, किन्तु आत्मविदो न।

तदनन्तरं पराऽपराविद्यावत् विद्याऽविद्यारूपेणापि ईशोपनिषदि विद्याद्वयस्य वर्णनं समुपलभ्यते। तत्र विद्यायाः पृथक् फलमस्ति अविद्यायाश्च पृथक्। अत एवोच्यते -

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।[१४]

तत्र विद्यायाः अविद्यायाश्च तदर्थो नास्ति यत्प्रचलितार्थे लौकिकभाषया विद्या यद्वा अविद्या उच्यते। यद्यपि द्वयमेव निश्चयेन ज्ञातव्यं किन्तु विद्याद्वयस्य पृथक्-पृथक् फलं वर्तते। यो द्वयमेव जानाति सोऽविद्यया मृत्युं तरति विद्यया च अमृतमवाप्नोति।[१५] कठोपनिषदि यम-नचिकेता-संवादेन विद्याऽविद्ययोर्भेदः स्पष्टीक्रियते। तत्र आचार्यो यमो नचिकेतसं कथयति -

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।।[१६]

हे नचिकेताः! विद्याऽविद्या एते द्वे परस्परं पृथक् स्तः। त्वं विद्यायाः अभिलाषी वर्तते, न तु अविद्यायाः। कुतो हि त्वां बहवो विषयभोगाः कामाः केनापि प्रकारेण न अलोलुपन्त। एवं स्पष्टं यद् यदा मनुष्यः संसारस्य विषयेषु भोगेषु च लुप्तो न भवति यद्वा तैर्विषयैर्लोभायमानो न भवति तदा उपनिषदनुसारं

स मनुष्यो निश्चयेन विद्यां जानाति। तद् व्यतिरिच्य यदा मनुष्यो विषयेषु कामनासु भोगेषु च विलुप्तो भवति तदा सोऽविद्यायाः मार्गे प्रचलति। तदविद्या का इति चेदुच्यते –

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।[१७]

अर्थादविद्या सा भवति यदा मनुष्यो विषयवासनासु संलिप्तं भूत्वा पुस्तकं पठित्वा कण्ठस्थं च कृत्वा आत्मनं विद्वांसं कथयति। अन्योऽपि तं विद्वान्रूपेण आह्वयति। किन्तु स विद्वांसं भूत्वापि तादृशो मूर्खो भवति यथा अन्धेन एव नीयमानाः अन्धाः।

छान्दोग्योपनिषदो नारद–सनत्कुमारसंवदेनापि विद्याऽविद्ययोर्भेदः स्पष्टीक्रियते।[१८] तत्र यदा नारदो मुनिः ऋषिसनत्कुमारस्य समीपं गत्वा कथयति हे भगवन्! मह्यं ज्ञानं दीयताम्। सनत्कुमारः पृष्टवान् अद्यपर्यन्तं भवान् किं शिक्षितवान्? तदा नारदः तत्र ऋग्वेदादारभ्य देवजनविद्यापर्यन्तं सर्वाः विद्याः गणयति कथयति च एतान् सर्वान् ग्रन्थान् पठित्वा मन्त्रविद् तु अभवम्, किन्तु आत्मविद् न अभवम्। मन्त्रविद् भूत्वा अहं चिन्तयामि यद् अहं महान् विद्वान्नस्मि। सम्प्रति संसारस्य किमपि दुःखं मुह्यं कष्टं दातुं न शक्नोति। किन्तु विद्वांसं भूत्वापि अहं मूर्ख एव अस्मि। यतो हि शोकः आयाति चेत्तत्र कष्टमनुभवामि, दुःखम् आयाति चेद्विचलितं भवामि। तेन ज्ञानेन मे कोऽपि लाभो नाभवत्। मम आत्मा शान्तिं नानुभवति इति। एवमेव याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवादेऽपि याज्ञवल्क्यः कथयति यद् वित्तेन तु केवलं गृहभोजनादिपदार्था एव प्राप्यन्ते, अमृतत्त्वस्य तु आशा नास्ति वित्तेन।[१९] यम–नचिकेतासंवादेऽपि नचिकेता कथयति न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः इति।[२०] इत्थं नारदः ग्रन्थानामध्ययनेन यत्प्राप्तवान्। यमो यत्किमपि नचिकेतसे ददाति स्म। याज्ञवल्क्यश्च मैत्रेयीं यत्किमपि समर्पयति स्म। तत्सर्वमविद्या एव आसीत्। तद् व्यतिरिच्य आत्मज्ञानं ब्रह्मज्ञानञ्च विद्या वर्तते।

आचार्यस्वरूपम्

सामान्यतया आचार्यः स भवति यः सदाचारं ग्राहयति सर्वा सत्यविद्या च बोधयति। यास्काचार्यपादैरप्युक्तम्– **''आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्नाचिनोति बुद्धिमिति वा''** इति।[२१] किन्तु वैदिककालीनशिक्षाव्यवस्थायामाचार्यस्य स्वरूपं कीदृशमासीत्तस्य सविशदं वर्णनमथर्ववेदसंहितायां समुपलभ्यते।

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।।[२२]

तत्र आचार्यस्य मृत्युरूपत्वं संलक्ष्यते। ज्ञानेन सदाचारेण च शिष्यस्य अन्धकारभूतस्य अज्ञानस्य यद्वा मान–अभिमान–अहङ्कारादीनां दूरीकरत्वादाचार्यस्य मृत्युत्वम्। तत्पश्चाद् आचार्यो वरुणरूपेण वर्णितः। पापात् निवारकत्वात् पुण्यकर्मणि प्रेरकत्वाच्च आचार्यस्य वरुण इति समाख्या। ''यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षुन् धर्मात्मनो वृणोति अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः'' इति महर्षिदयानन्दमतम्।[२३] वरुणशब्दः श्रेष्ठत्ववाचकोऽपि भवति। आचार्यस्य श्रेष्ठत्वमपि सुप्रसिद्धमेव। तदनन्तरं मन्त्रे आचार्यस्य कृते सोमशब्दोऽपि प्रयुक्तः। ''चन्द्रमा वै सोमः''[२४] इति श्रुतिवचनेन सोमशब्दस्यार्थः चन्द्रोऽपि भवति। चन्द्रवत् शान्तिदायकत्वाद् आह्लादकत्वाच्च आचार्यस्य सोम इति नामकरणम्। शिष्यः आचार्याद् यां विद्यां प्राप्नोति सा विद्या शिष्यस्य अन्तःकरणे शान्तिमानन्दञ्च यच्छति। एवं यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः आचार्यः। तदनु आचार्य औषधिरूपेणापि कथितः। औषधिः रोगादिदोषान् दूरीकरोति

आरोग्यत्वञ्च यच्छति। आचार्योऽपि तदेव कर्म करोति। शिष्यस्य दुर्व्यसनानि दूरीकरोति सद्गुणान् च स्थापयति तस्मादाचार्यस्य औषधिरिति संज्ञा। अन्ते आचार्यः पयरूपेण वर्णितः। पयसोऽर्थो भवति दुग्धं क्षीरं जलं वीर्यमन्नं बलमुत्साहश्च। एतानि वस्तुनि बुद्धिशक्तिबर्धकानि भवन्ति। आचार्योऽपि शिष्यस्य बुद्धिः शक्तिश्च बर्धयति। अतः आचार्यः पयः।

प्रवेशपरीक्षा

वर्तमानकालीनशिक्षाव्यवस्थावद् वैदिककालीनशिक्षाव्यवस्थायामपि ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थं प्रवेश परीक्षायाः व्यवस्था आसीत्। किन्तु तदानीं प्रवेशपरीक्षा वर्तमानकालीनशिक्षाव्यवस्थावत् सहजा सरला अनायाससिद्धा च नासीत् अथवा कस्यापि उच्चस्तरीयपुरुषविशेषस्य (Recommend) इत्यनेन ब्रह्मविद्यायाः ज्ञानं न मिलति स्म। यथा प्रश्नोपनिषदि सुकेशा-सत्यकाम-आश्वलायनादिषडृषयो यदा महर्षिपिप्पलादस्य समीपं ब्रह्मविद्यायाः तत्त्वज्ञानस्य कृते गतवन्तः तदा तत्र महर्षिः पिप्पलादः सर्वादौ तेषां मुनीनां प्रवेशपरीक्षां नीतवान्। तत्र ते मुनयः प्रवेशपरीक्षारूपेण एकवर्षं यावत् श्रद्धया ब्रह्मचर्येण तपसा च निवसितवन्तः।[२५] तदनन्तरं ते महर्षिपिप्पलादसकाशाद् ब्रह्मज्ञानं प्राप्तवन्तः। एवमेव छान्दोग्योपनिषदि जाबालसत्यकामस्य उपाख्यानमायाति।[२६] सत्यकामो यदा महर्षिहारिद्रुमतं निकषा ब्रह्मज्ञानाय गच्छति तदा सोऽपि तत्र प्रवेशपरीक्षां यच्छति। तत्र गुरोराज्ञया स ४०० इति संख्यकान् कृशकायान् अबलाश्च गाः स्वीकृत्वा तासां गवां सेवार्थं वनं गच्छति। तत्र तासां गवां संख्याः यदा १००० इति संख्यकाः भवन्ति तदा स ब्रह्मविद्यां प्राप्नोति। इत्थं वैदिककालीनशिक्षाव्यवस्थायां सुकठिना प्रवेशपरीक्षा भवति स्म।

दीक्षान्तसमारोहः

वैदिककाले ब्रह्मचारिनो वेदादिशास्त्राणां यथार्थरूपेण अध्ययनस्यानन्तरं दीक्षान्तसमारोहरूपेण समावर्तनसंस्कारो भवति स्म। कुतो हि समावर्तनसंस्कारस्यानन्तरं शिष्यो विवाहसंस्कारेण गृहस्थाश्रमे प्रवेशं करोति स्म। अतः तत्र गृहस्थाश्रमे शिष्येण किं करणीयं किञ्च न करणीयं तत्सर्वम् आचार्यः समावर्तनसंस्कारेऽस्मिन् कथयति स्म। कुतो हि आचार्यो जानाति स्म यद् गृहस्थाश्रमे प्रवेशं कृत्वा शिष्यः काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेषादीनां वशीभूतं भूत्वा शास्त्रविरुद्धमाचरणं कर्तुं शक्नोति, तत्र लोकैषणा-वित्तैषणा-पुत्रैषणादिषु संलिप्तं भवितुमर्हति, यदि दुर्भाग्यवशात् एवं करोति चेत्स शिष्योऽविद्यायां विलुप्तं भूत्वा कदापि विद्यया अमृतत्त्वं न प्राप्तुं शक्नोति। अतोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतं प्राप्तव्यं चेच्छिष्येण गुरोरुपदेशं निश्चयेन बारम्बारं स्मरयित्वा तदनुसारं कर्म च करणीयम्। अत एव वेदादिशास्त्राणां यथायथमध्ययनं कारयित्वा आचार्यः आश्रमे निवसन्तं ब्रह्मचारिणमन्तेवासिशिष्यं दीक्षान्तभाषणं यच्छति। **''सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतरानीति ..... एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्''** इति।।[२७]

इत्थं निष्कर्षरूपेण संक्षेपेण व्यक्तव्यं यदुपर्युक्ताचार्यस्योपदेशाः विद्यार्थिनां कृते खलु अतीव

महत्त्वपूर्णाः सन्ति। इमे उपदेशाः मानवजीवनस्य सारभूताः सन्ति। एतदेव वैदिकशिक्षायाः वैशिष्ट्यं वर्तते। वैदिककालीनशिक्षाया एतेषां सर्वेषां तत्त्वानां वर्तमानकालीनशिक्षायामतीव प्रासङ्गिकत्वं विद्यते। वर्तमानकालेऽपि समावर्तनसंस्कारस्य स्थाने केवलं दीक्षान्तसमारोहो भवति। किन्तु तत्र एतादृशाः उपदेशाः विद्यार्थिनो न प्राप्नुवन्ति। अत एव वर्तमानशिक्षाव्यवस्थायां वैदिकालीनशिक्षाव्यवस्थायाः नैतिकमूल्यानि स्वीकर्तव्यानि। कुतो हि वर्तमानशिक्षापद्धतिः केवलम् अविद्या-शिक्षाश्रितापद्धतिः वर्तते। यस्मात् कारणात् वर्तमानकाले मानवजीवने भोगप्रधाना प्रवृत्तिः अर्थपरा मानसिकता चेति परिलक्ष्यते। यस्मात् कारणान्मनुष्यजीवनं सर्वथा सर्वदा च व्यकुलीभूतम्। फलतस्तु रोगाक्रान्तं शरीरं सङ्कीर्णभावनामयं चित्तं जातम्। मनुष्येषु दानवीया प्रवृत्तिः, विकृतिमनस्कता, परस्य जिहीर्षा इत्यादिकं मनुष्यं पशुप्रवृत्तिप्रवणं कृतम्। संसारेऽस्मिन् पशुपक्षिणां प्रकृतिः अपि अस्थिरा जाता। समस्याकुलं जगदीदम्। अतोऽस्य समाधानाय वैदिककालीन-वर्तमानकालीनशिक्षयोरुभयोर्मध्ये सामाञ्जस्यं स्थातव्यम्। येन अस्माकं देशः समाजश्च मानवीयमूल्यैः सममुन्नतिं प्राप्नुयात्। इत्थं वर्तमानशिक्षायां वैदिककालीनशिक्षायाः अतीव प्रासङ्गिकत्वं संलक्ष्यते।

सन्दर्भाः

१. अष्टाध्यायी, ३.३.१०३
२. नास्ति विद्यासमं चक्षुः। महाभारते, १२.३३९.६
३. सा विद्या या विमुक्तये। विष्णुपुराणे, १.१९.४१
४. शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः। कथारत्नाकरे, १.२४.१
५. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.३.३
६. वसिष्ठस्मृति, ६.३
७. अथर्ववेदे, ११.५.३
८. सातवलेकरभाष्यम्। अथर्ववेद-संहिता, ११.५.३
९. कठोपनिषद्, १.९
१०. आचार्यः मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। अथर्ववेद-संहिता, ११.५.१४
११. मुण्डकोपनिषद्, १.१.४
१२. मुण्डकोपनिषद्, १.१.५
१३. छान्दोग्योपनिषद्, ७.२.१
१४. ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र- १०
१५. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सः।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र- ११
१६. कठोपनिषद्, १.२.४
१७. कठोपनिषद्, १.२.५
१८. छान्दोग्योपनिषद्, ७.१.१-३
१९. बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.२
२०. कठोपनिषद्, १.१.२७

२१. निरुक्त, १.४
२२. अथर्ववेद-संहिता, ११.५.१४
२३. सरस्वती, दयानन्द। सत्यार्थ प्रकाश । दिल्ली : आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २०१०, (७३ संस्करणम्), पृ. २२
२४. शतपथब्राह्मण, १२.१.१०.२; कौषीतकिब्राह्मण, १६.५, तैत्तिरीयब्राह्मण, १.४.१०.७
२५. प्रश्नोपनिषद्, १.१, २
२६. छान्दोग्योपनिषद्, ४.४
२७. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.९.१-४

Bibliography

- *Aitareyabrāhmaṇam,* Ed. by Sudhakar Malaviya. Varanasi : Tara Book Agency, 2015.
- *Atharvaveda kā Subodhabhāṣya,* Ed. by Sripad Damodar Satavlekar. Balsad: Swadhyay Mandal Pardi, 1990.
- *Bṛhadāraṇyakopaniṣad with commentary of Śaṅkarācārya,* Ed. by Gītāpresa : Gorakhpur.
- *Chāndogyopaniṣad,* Ed. by Gangadhar & Mahavir Prasad. Varanasi : Chaukhamba Vidya Bhavan, 2008.
- *Ekādaśopaniṣad,* Ed. by Satyavrata Siddhantalankar. New Delhi : Vijaykrishna Lakhanpal, ...
- *Gopathabrāhmaṇabhāṣyam,* Ed. by Pragyadevi & Medhadevi. Delhi : Chaukhamba Sanskrit Pratisthan, 1977.
- *Niruktam of Yāska,* Ed. by Chhajjuram Shastri. New Delhi : Meharchanda Lachmandas Publication, 2016.
- *Rgvedabhāṣyam,* Ed. by Maharshi Dayananda Sarasvati. Delhi : Manav Utthan Sankalpa Sansthan Gautam Nagar, 2010.
- *Sāmaveda kā Subodhabhāṣya,* Ed. by Sripad Damodar Satavlekar, Balsad : Swadhyay Mandal Pardi, 1985.
  Śatapathabrāhmaṇam with commentary of Sāyaṇa, Ed. by Nag Publication. Delhi : Javahar Nagar, 1939.
- *Śatapathabrāhmaṇam,* Ed. by Swami Satyaprakash. Delhi : Vijay Kumar Gobindaram Hasananda, 2010.
- *Tāṇḍyamahābrāhmaṇam with commentary of Sāyaṇa,* Ed. by Chaukhamba Sanskrit Sansthan. Varanasi : Chaukhamba Sanskrit Sansthan Publisher, 2002.
- *Yajurvedabhāṣyam with commentary of Maharṣi Dayānanda Sarasvatī,* Ed. by Manav Utthan Sankalpa Sansthan. Delhi : Gautam Nagar, 2010.
- *Īśādi nau upaniṣad with commentary of Śaṅkarācārya,* Ed. by Gitāpresa. Gorakhpur : U.P.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. - 2023

जानकीहरणमहाकाव्ये कुमारदासस्य रचनारीतिः - एकं परिशीलनम्

डॉ. प्रीतम-मण्डलः*

सामाजिकेषु जनेष्वन्यतमो हि कविः। अतः समाजस्य समकालीनसाहित्यचिन्तायाः संस्कृतेश्च प्रभावः कवेः काव्येषु समापतति। तात्कालिकचिन्ताधाराधिवासितस्य कविस्वभावस्य प्रतिफलनं जायते कवीनां रचनासु। तदेव च रचनारीतिरूपेण परिगण्यते। कविस्वभावभेदनिबन्धनो हि रीतिप्रभेदः समञ्जसतां विगाहते इति सुष्ठु लक्षितं कुन्तकेन।[१]

कालिदासादनन्तरं काचन स्वतन्त्रैव काव्यरचनाधारा कवीनां कृतिषु पदं कृतवतीति तावत् विदितं समेषां साहित्यरसिकानाम्। कालिदासं यावत् कवीनां काव्येषु यदि तावत् प्रतिभायाः प्राधान्यं तर्हि तदनन्तरवर्तिषु कविषु व्युत्पत्तेरभ्यासस्य च परः प्रकर्षः। नवीनायाः अस्याः रचनारीतेर्भारविरेव मार्गावेदकतया परिगण्यते। भारविप्रदर्शिता काव्यरचनारीतिरेव प्रायेण भट्टिमाघश्रीहर्षादिभिः समनुसृता।

रीतिशब्दस्य व्युत्पत्तिनिर्णयावसरे गोपेन्द्रत्रिपुरहरेण तस्य कामधेनुटीकायाम् उदीरितम् – 'रीणन्ति गच्छन्ति अस्यां गुणाः इति, रीयते क्षरत्यस्यां वाङ्मधुधारेति वा रीतिः'[२] इति। ननु कासौ रीतिः इति जिज्ञासायामुच्यते वामनाचार्येण 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'[३] इति। अत्र कोऽसौ विशेष इत्यपेक्षायामाह वामनः 'विशेषो गुणात्मा'[४] इति। ओजःप्रसादादिगुणविशिष्टपदरचना रीतिरिति। आचार्यविश्वनाथः शब्दार्थशरीरस्य काव्यस्य आत्मभूतानां रसादीनाम् उपकर्त्रीं पदसंघटनां रीतिरिति लक्षयति। तथोक्तं तेन – 'पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्'[५] इति।

रीतिशब्दस्य पन्थाः, मार्गः, पद्धतिः, प्रणाली, शैली इत्यादयः शब्दाः पर्यायवाचिनः। अद्यत्वेन शैली (Style) इति शब्देन यदभिमतं तत् पुरा रीतिशब्देनाभिप्रेतम्।

दण्डिवामनरुद्रटादिभिः रचनारीतेर्द्वैविध्यं त्रैविध्यं चातुर्विध्यं वा प्रतिपादितम्। दण्डिना वैदर्भगौडीयाविति रीतिद्वयं[६], वामनेन वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतित्रयं[७], कुन्तकेन सुकुमारविचित्रमध्यमभेदेन रीतित्रयं[८], विश्वनाथेन वैदर्भी गौडी पाञ्चाली लाटिका चेति रीतिचतुष्टयं[९], रुद्रटेनापि वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली लाटीया चेति रीतिचतुष्टयं[१०] स्वीकृतम्। किञ्च रुद्रटो रसेन सह रीतीनां कमपि सम्बन्धं लक्षितवान्। तथा च तस्य मते प्रेयःकरुणभयानकाद्भुतेषु चतुर्षु रसेषु वैदर्भी पाञ्चाली चेति रीतिद्वयं कुर्यात्। तथा रौद्रे रसे लाटीया गौडीया च कर्तव्या।। एतेषामाचार्याणां दृक्कोणतो विचारे क्रियमाणे कालिदासस्य रचना यथा वैदर्भीरीतिप्रधाना तथा कुमारदासस्य रचनापि। तथाहि निगदितम् A. B. Keith इति पण्डितेन 'Kalidasa influenced Kumaradasa in style as well as subject; he adopts

* सहायकाध्यापकः, पोलवा-महाविद्यालयः, पोलवा, हुगली, पश्चिमबङ्गः।

the vaidarbha from'[12] इति। अपि च महाकाव्येऽस्मिन् गौडीया रीतिरपि व्यवहृता कुमारदासेन। अधुना उदाहरणमाध्यमेन संक्षेपं कविप्रयुक्तरीतिद्वयम् आलोचयितुं क्रियते प्रयत्नः।

आचार्यवामनेन वैदर्भीरीतेर्लक्षणमेव कृतं 'समस्तगुणोपेता वैदर्भी'[१३] इति। तथाहि ओजःप्रसादादिगुणैः समग्रतया मण्डिता दोषमात्रास्पृष्टा, विपञ्चीस्वरसौभाग्या इयं वैदर्भी। वैदर्भीरीतेः स्वरूपमधिकृत्य साहित्यदर्पणकारेणोक्तम् –

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।।[१४] इति।

अर्थात् माधुर्यगुणस्य व्यञ्जकैर्वर्णैः शब्दतोऽर्थतश्च सुकोमला रचना समासरहिता स्वल्पसमासा वा पदयोजना वैदर्भीरीतिरित्यर्थः।

कालिदासोत्तरकालिकेषु महाकाव्यरचयितृषु कुमारदासोऽन्यतमः। महाकविना कुमारदासेन वाल्मीकि–रामायणमुपजीव्य जानकीहरणं महाकाव्यं प्रणीतम्। जानकीहरणस्य सप्तमसर्गे सीतायाः अलोकसामान्य–रूपलावण्यवर्णनावसरे कोमल–पदसन्निवेशेन वैदर्भीरीतिर्यथा –

मृगाङ्गनानां नयनानि पूर्वं विधाय नीलानि च नीरजानि।
कृतप्रयोगेन पुनर्विधात्रा सृष्टं नु नेत्रद्वयमायताक्ष्याः।।[१५] इति।

दीर्घसमासबद्धपदरहिते श्लोकेऽस्मिन् प्रसादः माधुर्यं सौकुमार्यञ्चेति गुणत्रयं संलक्ष्यते। अतः उल्लिखितश्लोको वैदर्भीरीतेः उपयुक्तदृष्टान्तः।

जानकीहरणस्य प्रथमसर्गे कौशल्यायाः दैहिकसौन्दर्यवर्णनकाले कविना कुमारदासेन वैदर्भीरीतिः व्यवहृता। दिङ्मात्रमुदाहरणं यथा –

लीला गतेरत्र निसर्गसिद्धा मत्तो न दन्ती मुषितो न हंसः।
इतीव जङ्घायुगलं तदीयं चक्रे तुलाकोट्यधिरोहणानि।।[१६] इति।

कोमलपदयुक्ते श्लोकेऽस्मिन् केवलं निसर्गसिद्धा जङ्घायुगलं चेति समासविशिष्टपदद्वयम् उपस्थितम्। अपि चात्र माधुर्यसौकुमार्याभ्यां सह प्रसादगुणः विद्यते।

किञ्च जानकीहरणस्य प्रथमसर्गे मुनिकुमारवृत्तान्तकथनकालेऽपि वैदर्भीरीतेः प्रयोगः सन्दृश्यते। तद्यथा–

वनेषु वासो मृगयूथमध्ये क्रिया च वृद्धान्धजनस्य पोषः।
वृत्तिश्च वन्यं फलमेषु दोषः संभावितः को मयि घातहेतुः।।[१७]

इत्यस्मिन् करुणरसात्मके श्लोके 'मृगयूथमध्ये', 'वृद्धान्धजनस्य' 'घातहेतुः' चेति त्रयाणां स्वल्पसमासविशिष्टपदानां समावेशः संलक्ष्यते। कोमलपदान्वितश्लोकोऽयं प्रसादगुणयुक्त इति।

महाकाव्यस्यास्य चतुर्थसर्गे रामाय दशरथस्योपदेशदानप्रसङ्गे कविना वैदर्भी रीतिरनुसृता। तद्यथा –

जनमन्यहितप्रवर्तनं स्वयमेवाभिसरन्ति सम्पदः।
नियतं निजकृत्य लम्पटः पुरुषः स्वार्थत एव हीयते।।[१८]

इत्यस्मिन् कर्कशपदरहिते प्रसादगुणयुक्ते श्लोके अन्यहितप्रवर्तनम् निजकृत्य चेति स्वल्पसमासयुक्तपदद्वयं परिलक्ष्यते।

अपि च जानकीहरणस्य तृतीयसर्गे वसन्तवर्णनकाले, स्त्रीभिश्च सह दशरथस्य उद्यानविहारसमये तथा जलक्रीडावसरे; चतुर्थे सर्गे रामचन्द्रस्य शैशववर्णनाकाले; अष्टमसर्गे सीतया सह रामस्य सम्भोगवर्णनवेलयायाम्; द्वादशसर्गे शरद्वर्णनायाम्; पञ्चदशे सर्गे अङ्गदस्य तथा माल्यवतः उक्तौ; नवदशे सर्गे मन्दोदरीविलापवर्णनायां वैदर्भी रीतिः कविना समनुसृता।

'ओजःकान्तिमयी गौडीया'[१९] इति गौडीयारीतेर्लक्षणं कृतं वामनेन। तन्नये माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्यल्वणपदा हि गौडीया। साहित्यदर्पणे विश्वनाथेन भणितम् – 'ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरं पुनः। समासबहुला गौडी।।'[२०] इति।

जानकीहरणस्य चतुर्थे सर्गे ताडकायाः वर्णनावसरे कर्कशपदसन्निवेशेन गौडीया रीतिर्यथा –

परितः स्फुरदन्त्रपाशया परिणद्धाकुलकेशसन्ततिः।
घनशोणितपङ्ककुंकुमप्रविलिप्तस्तनकुम्भभीषणा।।[२१] इति।

दीर्घसमासबद्धपदयुक्ते श्लोकेऽस्मिन् ओजः कान्तिः इति गुणद्वयं संलक्ष्यते। अतः उल्लिखित-श्लोको गौडीयारीतेः उपयुक्तः दृष्टान्तः।

महाकाव्यस्यास्य सप्तदशसर्गे वानरराक्षसयोः युद्धवर्णनसमये कविना कुमारदासेन गौडीया रीतिः व्यवहृता। दिङ्मात्रमुदाहरणं यथा –

द्विषद्भिरन्तस्थ महोरगौरगैर्हतस्य कस्यापि समन्ततस्ततः।
स चर्ममांसे हि विदारिते रिते गतायुषः प्रस्फुरदस्थिता स्थिता।।[२२] इति।

कर्कशपदयुक्ते श्लोकेऽस्मिन् ओजःकान्तिश्चेति गुणद्वयम् उपस्थितम्।

जानकीहरणस्य एकादशसर्गे वर्षाकालवर्णनावसरे गौडीयारीतेः नैकानि निदर्शनानि नो नयनपथे पान्थायते। तद्यथा –

ऋतुरतारतभास्वदिरम्मदारुचिपिशङ्गितवारिदमण्डलः ।
प्रचलवातविधूतपरिभ्रमत्सितविहङ्गमदन्तुरदिङ्मुखः।।[२३]

इत्यस्मिन् दीर्घसमासबद्धपदयुक्ते श्लोके ओजः कान्तिश्चेति गुणद्वयं संलक्ष्यते।

अनन्तरम् अस्मिन् एकादशसर्गे वर्षावर्णनप्रसङ्गे दीर्घसमासबद्धपदयुक्तायाः ओजः कान्तिश्चेति गुणद्वयान्वितायाः गौडीयारीतेरपरः दृष्टान्तो यथा –

वारिप्रवाहपरिलङ्घितभूमिष्ठं धारान्धकारहृतदिक्प्रविभागभित्ति।
मेघप्रतानपिहिताद्रि घनागमने ग्रस्तं समस्तमिव भाति जगत् समन्तात्।।[२४] इति।

अपि च द्वितीयसर्गे रावणपीडनेन देवतानां सन्तापवर्णनकाले, पञ्चदशे एकादशे षोडशे सप्तदशे अष्टादशे नवदशे च सर्गे युद्धवर्णनावसरे, चतुर्दशसर्गे सेतुबन्धनकाले, पञ्चदशसर्गे अङ्गदोपदेशं श्रुत्वा राक्षसाणां क्रोधप्रकाशकाले गौडीया रीतिः कविना कुमारदासेनानुसृता।

जानकीहरणस्य रचना प्रायेण वर्णनात्मिका। कालिदासस्य वर्णनं व्यङ्ग्यार्थप्रधानं कुमारदासस्य वर्णनं तु विशेषेण वाच्यार्थप्रधानं विशदञ्च। विषयस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मवर्णनायां कवेरस्य नास्ति कोऽपि क्लेशः न कापि क्लान्तिः। विशेषस्तु अयोध्यामिथिलयोः वर्णने, कौशल्यासीतयोः रूपचित्रणे, सूर्यास्तसन्ध्याचन्द्रोदयानां वर्णनायाम्, रामसीतयोः सम्भोग-चित्रकल्पने, वर्षादीनाम् ऋतूनाम् अभिवर्णने च

कवेः प्रतिभा सार्थकतां भजते। वर्णनानुगतस्तस्य छन्दसां प्रयोगः। वर्णनविषये वैचित्र्यविधानार्थं कविना स्वकाव्ये वंशस्थविलम्, रथोद्धता, अनुष्टुप्, उपजातिः, द्रुतविलम्बितम्, पुष्पिताग्रा, वियोगिनी, स्वागता, प्रमिताक्षसा, वसन्ततिलकम्, शार्दूलविक्रीडितम्, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी नर्दटकम्, हरिणी, रुचिरा, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी, प्रहर्षिणी, मालिनी, इन्द्रवज्रा, तोटकम् चेति त्रयोविंशतिसंख्यकानां छन्दसां प्रयोगो विहितः। अपि च रचनारीतेरभिवृद्धये कविना अनुप्रासयमकादयः शब्दालङ्काराः तथा उपमोत्प्रेक्षारूपकार्थान्तरन्यासदृष्टान्तादयः अर्थालङ्काराः यथावत् प्रयुक्ताः।

रसपरिवेशनेऽपि कविरद्वितीयः। जानकीहरणे वीरोऽङ्गिरसः। तद्यथा- जानकीहरणस्य प्रथमे सर्गे दशरथस्य दिग्विजयकाले, नवमसर्गे रामपरशुरामयोः द्वन्द्वे, एकादशसर्गे बालिसुग्रीवयोः युद्धे, सप्तदशसर्गे वानरराक्षसयोः भयानकयुद्धे वीररसः प्रकाशितः। यद्यपि जानकीहरणे वीरोऽङ्गिरसस्तथापि अङ्गरसरूपेणात्र शृङ्गारहास्यकरुणबीभत्सभयानकरौद्रादीनामपि यथा-यथसन्निवेशनं संलक्ष्यते। तथाहि अष्टमसर्गे रामसीतयोः सम्भोगवर्णनकाले शृङ्गाररसस्य, नवदशसर्गे मन्दोदरीविलापवेलायां करुणरसस्य, सप्तदशसर्गे राक्षसैः सह वानराणां युद्धे भयानकरसस्य, चतुर्दशसर्गे सेतुबन्धनसमये वानराणां विविधेषु कार्यकलापेषु हास्यरसस्य, द्वादशसर्गे सुग्रीवं प्रति रामस्य रोषप्रकाशकाले रौद्ररसस्य सन्निवेशनं प्रासङ्गिकतया कविना समाचरितम्।

कुमारदासस्य वाक्शिल्पचातुर्यमपि कवीनां श्लाघास्पदम्। शिल्पितभाषाप्रयोगे कविरयमद्वितीयः। तत्प्रयुक्ताः कतिचन शब्दराजयः प्रायेण वाग्विधिपदमुन्नीताः। बहुल-प्रयुक्तानामेतेषां कतिचनोदाहरणानि समुद्ध्रियन्ते - 'पुरी परार्ध्या'[२५], 'ततान तोषम्'[२६], 'सुरभीचका'[२७], 'वनं तपस्यद्धवनम्'[२८], 'कुलं कलङ्कैः कलुषीकरोषि'[२९], 'चीरी चचार'[३०], 'वरं वीराय विश्वेशः'[३१], 'वैकुण्ठस्य विकुण्ठितम्'[३२], 'प्रीणाति पिशितप्रियम्।'[३३], 'सौवर्णसूत्रश्रियमाततान'[३४], 'चिरं चकम्पे'[३५], 'रुचिरेण करेण'[३६], 'निनाय नायकः'[३७], 'यौवनाविनयम्'[३८] 'सत्रसम्भारसम्पदः'[३९], 'रजः शशाम'[४०], 'धृतिं सिषेवे'[४१], 'विलसन्ति विद्युतः'[४२] इत्यादिना वाङ्निर्मितिकौशलेन कुमारदासस्य रचनाशैली कीदृग्विकासं समासादितेति विबुधैर्विभावनीयम्। अपि च 'अधिरयः'[४३], 'आलोकभूमिः'[४४], 'आसूतीवलम्'[४५], 'उद्देहिका'[४६], 'कीनाशः'[४७], 'जम्पती'[४८], 'तीरी'[४९], 'देवतामुखः'[५०], 'नित्यगतिः'[५१] इत्याद्यप्रचलितशब्दप्रयोगे तस्य प्रज्ञा समभिनन्दनीया।

सन्दर्भाः

१. वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमः उन्मेषः, पृ. १६४

२. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, प्रथमाधिकरणम्, द्वितीयो अध्यायः, कामधेनुटीका, पृ. ६२

३. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, १.२.७

४. तत्रैव, १.२.८

५. साहित्यदर्पणः, ९.१

६. काव्यादर्शः, १.४०

७. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, १.२.९

८. वक्रोक्तिजीवितम्, १.२८

९. साहित्यदर्पणः, ९.२

१०. काव्यालङ्कारः,१५.२०

११. तत्रैव, १५.२०

१२. A History of Sanskrit Literature, p. 120-121

१३. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, १.२.११

१४. साहित्यदर्पणः, ९.३

१५. जानकीहरणम्, ७.१४

१६. तत्रैव, १.२८

१७. तत्रैव, १.७८

१८. तत्रैव, ४.३५

१९. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, १.२.१२
२०. साहित्यदर्पणः, ९.४
२१. जानकीहरणम्, ४.६१
२२. तत्रैव, १७.३५
२३. तत्रैव, ११.३९
२४. तत्रैव, ११.८८
२५. तत्रैव, १.१
२६. तत्रैव, १.१०
२७. तत्रैव, १.२०
२८. तत्रैव, १.७२
२९. तत्रैव, १.८३
३०. तत्रैव, २.३६
३१. तत्रैव, २.३८
३२. तत्रैव, २.५२
३३. तत्रैव, २.५६
३४. तत्रैव, ३.३३
३५. तत्रैव, ३.४६
३६. तत्रैव, ४.१०
३७. तत्रैव, ५.५२
३८. तत्रैव, ६.१५
३९. तत्रैव, ६.३५
४०. तत्रैव, ७.४
४१. तत्रैव, ७.२९
४२. तत्रैव, ९.५
४३. तत्रैव, ११.६९
४४. तत्रैव, १.२२
४५. तत्रैव, ६.३३
४६. तत्रैव, ६.११
४७. तत्रैव, २.२७
४८. तत्रैव, ९.१०
४९. तत्रैव, ३.६
५०. तत्रैव, ४.२१
५१. तत्रैव, १५.७

अनुशीलितग्रन्थसूची

संस्कृतभाषानिबद्धाः ग्रन्थाः

- आनन्दवर्धनः, ध्वन्यालोकः, सम्पा. पट्टाभिरामशास्त्री, वाराणसीः चौखम्बा-संस्कृत-संस्थानम्, २००९ (पुनर्मुद्रणम्)।
- कुमारदासः, जानकीहरणम्, सम्पा. जि.कृष्णप्रसादः, बेङ्गलुरुः विद्याधीशस्नातकोत्तरसंस्कृतशोधकेन्द्रम्, २०१५
- जगन्नाथः, रसगङ्गाधरः, सम्पा. पण्डितदुर्गाप्रसादः, काशिनाथपाण्डुरङ्गपरवश्च, मुम्बई : निर्णयसागरः, १८८८
- दाहालः, आचार्यः लोकमणिः, संस्कृतसाहित्येतिहासः, वाराणसीः चौखम्बा कृष्णदास अकादेमी, २०११ (चतुर्थसंस्करणम्)।
- भरतः, नाट्यशास्त्रम्, सम्पा. वटुकनाथशर्मा बलदेव उपाध्यायश्च, वाराणसी : चौखम्बा-संस्कृत-संस्थानम्, २००५ (तृतीयसंस्करणम्)।
- भामहः, काव्यालंकारः, सम्पा. बटुकनाथशर्मा बलदेवः उपध्यायश्च, वाराणसी : चौखम्बा-संस्कृत-संस्थानम्, २००२ (तृतीयसंस्करणम्)।
- मम्मटः, काव्यप्रकाशः, सम्पा. वामनाचार्यः, दिल्ली : परिमल् पाब्लिसार्स, २००८
- मम्मटः, काव्यप्रकाशः, सम्पा. शिवजी उपाध्यायः, वाराणसी : सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, २००२ (प्रथमसंस्करणम्)।

- मिश्रः, डॉ. जगदीशचन्द्रः, अलंकारशास्त्रस्येतिहासः, वाराणसी : चौखम्बा-सुरभारती-प्रकाशनम्, २००९
- वन्द्योपाध्यायः, धीरेन्द्रनाथः, संस्कृतवाङ्मयस्य इतिहासः, कलिकाताः संस्कृत-पुस्तक-भाण्डारः, २०१४ (प्रथमसंस्करणम्)।
- वाल्मीकिः, रामायणम्, सम्पा. वासुदेवलक्षणशास्त्रीपणशीकरः, मुम्बई : पाण्डुरङ्ग जावजी, १९३० (चतुर्थसंस्करणम्)।
- विश्वनाथः, साहित्यदर्पणः, सम्पा. कृष्णमोहनशास्त्री, वाराणसी : चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज-ऑफिस, १९५५ (द्वितीयसंस्करणम्)।

हिन्दीभाषानिबद्धाः ग्रन्थाः

- उपाध्याय, आचार्य बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी : शारदा निकेतन, २००१
- कालिदास, रघुवंशम्, सम्पा. कृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१४ (प्रथमसंस्करण)।
- कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, सम्पा. श्रीराधेश्याम मिश्र, वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत संस्थान, २००१ (पञ्चम संस्करण)।
- कुमारदास, जानकीहरणम्, सम्पा. श्रीकृष्णदास, इलाहाबाद : मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, १९६६ (प्रथम संस्करण)।
- दण्डी, काव्यादर्शः, सम्पा. जमुना पाठक, वाराणसी : चौखम्बा कृष्णदास अकादेमी, २००५ (प्रथमसंस्करण)।
- भारवि, किरातार्जुनीयम्, सम्पा. वदरीनारायण मिश्र, वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१२ (प्रथम संस्करण)।
- मम्मट, काव्यप्रकाशः, सम्पा. गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, वाराणसी : कृष्णदास अकादेमी, १९७७ (प्रथम संस्करण)।
- विश्वनाथ, साहित्यदर्पणः, सम्पा. श्रीदुर्गाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, १९८८ (पुनर्मुद्रण)।
- हेमचन्द्र, काव्यानुशासनम्, सम्पा. रामानन्द शर्मा, वाराणसी : कृष्णदास अकादेमी, २००० (प्रथम संस्करण)।

बङ्गभाषानिबद्धाः ग्रन्थाः

- अमरसिंहः, अमरकोष, सम्पा. श्रीमद्गुरुनाथ विद्यानिधिभट्टाचार्य, कलिकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार, १४१७ (प्रथम प्रकाश)।
- आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोकः, सम्पा. श्रीसुवोधचन्द्र सेनगुप्त ओ श्रीकालीपद भट्टाचार्य, कलकाताः संस्कृत वुँक डिपो, २००५ (प्रथम प्रकाश)।
- इसलाम, शेख मकवुल, गवेषणार पद्धतिविज्ञान-साहित्य समाज संस्कृति, कलकाता : वङ्गीय साहित्य संसद, २०१२ (प्रथम प्रकाश)।
- कालिदास, अभिज्ञानशकुन्तलम्, सम्पा. श्रीसत्यनारायण चक्रवर्ती, कलकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार, २००८ (षष्ठ संस्करण, चतुर्थ मुद्रण)।
- गङ्गादास, छन्दोमञ्जरी, सम्पा. गुरुनाथविद्यानिधि भट्टाचार्य, कलिकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार,

१४११ (वङ्गाब्द, द्वादश संस्करण)।

- चक्रवर्ती, श्रीश्यामापद, अलङ्कारचन्द्रिका, कलिकाता : कृताञ्जलि, २००६ (पुनर्मुद्रण)।
- चक्रवर्ती, सत्यनारायण, पाणिनीय शब्दशास्त्र, कलकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार, २०१० (द्वितीय प्रकाश)।
- दण्डी, काव्यादर्शः, सम्पा. चिन्मयी चट्टोपाध्याय, कलिकाता : पश्चिमवङ्ग राज्य पुस्तक पर्षत्, १९९५ (प्रथम संस्करण)।
- दीक्षित, भट्टोजी, सिद्धान्तकौमुदी, सम्पा. श्रीविनोद लाल सेन कविराज, कलिकाता : संस्कृत वुक डिपो, २००६ (द्वितीय प्रकाश)।
- पाणिनि, अष्टाध्यायी, सम्पा. डॉ. तपनशङ्कर भट्टाचार्य, कलकाताः, संस्कृत वुक डिपो. २०१२ (पुनर्मुद्रण)।
- वामनाचार्य, काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः, सम्पा. डॉ. अनिलचन्द्र वसु, कलिकाता : संस्कृत वुक डिपो, २००६ (द्वितीय संस्करण).
- मुखोपाध्याय, रमारञ्जन, रससमीक्षा, कलिकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार, २००१ (तृतीय संस्करण)।
- वन्द्योपाध्याय, धीरेन्द्रनाथ, संस्कृत अलंकारशास्त्रः तत्त्व ओ समीक्षा, कलकाता : पश्चिमवङ्ग राज्य पुस्तक पर्षत्, २०१२ (प्रथम प्रकाश)।
- वन्द्योपाध्याय, धीरेन्द्रनाथ, संस्कृत साहित्येर इतिहास, कलकाता : पश्चिमवङ्ग राज्य पुस्तक पर्षत्, २००९ (द्वितीय संस्करण, तृतीय मुद्रण)।
- विश्वनाथ–कविराज, साहित्यदर्पणः, सम्पा. डॉ. विमलाकान्त मुखोपाध्याय, कलकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार, २००८ (प्रथम संस्करण)।
- मम्मटाचार्य, काव्यप्रकाशः (प्रथमादिषष्ठोल्लासान्तः), सम्पा. विमलाकान्त मुखोपाध्याय, कलकाता : संस्कृत पुस्तक भाण्डार, १४१७ (प्रथम प्रकाश)।

आङ्गलभाषानिबद्धाः ग्रन्थाः

- Agarwal, H.R. 1963. *A Short History of Sanskrit Literature*. Delhi : Munshi Ram Manohar Lal. (2nd Edition).
- Bharavi. 2008. *Kiratarjuniam*.Ed. M.R. Kale. Delhi : Motilal Banarasidass Publishers Private Limited. (Reprint of 4th Edition).
- Dasgupta, S.N. 1962. *A History of Sanskrit Literature*. Kolkata : University of Calcutta. (2nd Edition).
- Kalidas. 2005. *Raghuvansa (The Raghuvabnsa of Kalidas)*. Ed. Kasinath Pandurang Parab. New Delhi : Cosmo Publications. (1st Edition).
- Kane, P.V. 1961. *History of Sanskrit Poetics*. Delhi : Motilal Banrasidass. (3rd Edition).
- Kane, P.V. 1995. *The Sahityadarpana*. Delhi : Motilal Banrasidass. (Reprint of 6th Edition 1974).
- Krishnamachariar, M. 1989. *History of Classical Sanskrit Literature*. Delhi : Motilal Banrsidass. (Reprint of 3rd Edition, 1974).
- Keith, A. Berriedale. 2010. *A History of Sanskrit Literature*. Delhi : Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd. (Reprint of 1st Edition, 1993).
- Kumar, Pushpendra.1980. *Aestheics And Sanskrit Literature*. Delhi : Nag Publishers.

(1st Edition).

- Kumardass.1977. *Janakiharana (Janakiharanam of Kumardasa)*.Ed. Dr. V. Raghavan. Delhi : Motilal Banarasidass. (1st Edition).
- Kumardass.1907. *Janakiharana*. Ed. Gopal Raghunath Nandarikar. Bombay : Luzac and Co. (1st Edition).
- Kumardass.1908. *Janakiharana (The Janakiharana of Kumardasa)*. Ed. Shastree Narayan Vasudeva Nigudkar. Bombay : The Oriental Publishing Co. (1st Edition).

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

आधुनिकयुगे सूर्योपासनायाः वैशिष्ट्यम्

डॉ. सस्मिता वारिक*

वैदिककालादारभ्य सर्वेषां हैन्दवानां प्रमुखाराध्यदेवत्वेन सूर्यः विराजते। शास्त्रेषु अस्य च भगवतः सूर्यस्य प्रसक्तिः तत्र तत्र भिन्नरूपेण संप्राप्यते। वैदिकवाङ्मये सकलानामौषधीनां पतित्वेन सर्वेषां प्राणिनां प्राणानामाधेयकत्वेन सूर्यः प्रचकास्ति। वेदादनन्तरं पुराणेषु असौ सूर्यः अपि तद्वत् पूज्यते। अस्य सूर्यस्य स्मरणं पूजनं कृत्वा विविधेषु रोगेषु प्रशान्तिः अनुभूयते। तदर्थं सूर्यस्योपासनां विधातुं पुराणानि प्रचोदयन्ति। धर्मशास्त्रे तु विविधश्राद्धादिविषयत्वेन अस्य सूर्यस्य सूचना प्राप्यते। कालगणना सूर्यस्याधारेणैव संपाद्यते। कालविधानशास्त्रे ज्योतिशास्त्रे तु सर्वेषां ग्रहाणामधिपतित्वेन तथा सकलानां कालानां साक्षीत्वेन सूर्यः विद्योतते। भौतिकविज्ञानशास्त्रे कणादशास्त्रे च असौ सूर्यः सकलशक्तेः आधारत्वेन परिगण्यते। वेदान्तदर्शने सूर्यस्य स्थितिः भौतिकत्वेन प्राप्यते।

यथा भारतीयसंस्कृतिः प्राचीना वर्तते सभ्यता अपि तद्वत् प्राचीना वर्तते। भारतवर्षस्य प्राचीना संस्कृतिः प्रतीकोपासनायां प्रवृत्ता आसीत्। ततः परं मूर्त्तिपूजा प्रारब्धा जाता। ततः परं मन्दिरेषु मूर्त्तिं संस्थाप्य नित्यार्च्चनाविधिः आगतः। एवं प्रकारेण उपासनायाः क्रमविकासः अग्रे आगतः। क्रमेण भगवद्विश्वासः, नित्याराधना, पूजापद्धतिः, भगवदाराधनानिमित्तं स्तोत्राणि काव्यानि पाठाः रचिताः।

सांप्रतिकसमाजे भारतीयसंस्कृतौ सर्वे प्रातः उत्थाय भगवतः नामस्मरणं तथा पूजाविधानं कुर्वन्तः सन्ति।

आधुनिकयुगे सूर्योपासनायाः वैशिष्ट्यम्

सूर्यः सकलशक्तेः आधारभूतो देवो वर्तते। सम्पूर्णं भारतीयं ज्योतिषशास्त्रं सूर्यस्य भ्रमणैः सह साक्षात् जडितं वर्तते। सूर्यस्य चतुर्पार्श्वे नवग्रहाः स्वीयकक्षायां परिभ्रमन्ति। केचन वैज्ञानिकसिद्धान्तानामाधारेण इदं तथ्यं स्पष्टीयते यत् सूर्यः स्थिरस्तथा सर्वे सूर्यस्य चतुर्पार्श्वे अहरहः भ्रमन्ति। असौ सूर्यः वैदिकसाहित्ये संहितासु ब्राह्मणग्रन्थेषु आरण्यकेषु उपनिषत्सु च यथा स्वतन्त्ररूपेण पूज्यते तद्वत् पुराणेषु अन्येषु शास्त्रेषु च मुख्यं स्थानं स्वीकरोति। अयं सूर्यः अखण्डः निराकारः निर्गुणः ज्ञानस्वरूपभूतः प्रकाशपुञ्जः अद्वितीयश्च वर्तते। एतस्मात् समस्तानां पदार्थानां समुत्पत्तिरजायत। एतस्य विषये वर्णयितुं वेदराशिः अपि स्वीयशक्तिबलेन न समर्थः। संसारेऽस्मिन् विद्यमानानां तापत्रयाणां प्रशमनार्थं सूर्यः समर्थो भवति। वेदेषु असौ सूर्यः प्रकाशमानज्योतिपुञ्जरूपेण स्तूयते। साक्षादग्निना सह अस्य सम्बन्धो वर्तते। अग्नेः यथा तेजराशिः देदीप्यते तद्वत् सूर्यस्यापि तेजराशिः ततोधिकं वर्तते। सूर्यस्य तेजः विश्वब्रह्माण्डमपि प्रज्वलयितुं समर्थम्। कोऽपि अस्य असह्यरश्मीं सोढुं न शक्नोति। तदर्थं सूर्यस्य तेजः न्यूनीकर्त्तुं पुराणेषु विविधस्तुतिपाठः कृतो वर्तते। आध्यात्मिकाधिभौतिकादिदैविकदुःखत्रयाणां समूलं विनाशयितुं देवाः अपि

* संस्कृत-अध्यापिका, श्रीपति माध्यमिक विद्यालय, बालाश्वर, ओडिशा।

सूर्यस्य स्तवनं कुर्वन्तः भवन्ति। अयं सूर्यः सांसारिकबन्धनादपि सर्वान् अपनोदयितुं समर्थो भवति।

सूर्योपासनामाध्यमेनैव सकलानां दुःखानां विनाशस्तथा प्राणिवर्गस्य असीमितशान्तिप्राप्तिर्भविष्यति। अतोच्यते –

अर्चन्तं एके महि साममन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। (ऋग्वेद-संहिता, ८.२९.१०)

पुराणेषु वेदेषु शास्त्रेषु अन्येषु च प्रथते यत् सूर्यः अभीष्टफलप्रदायको देवविशेषः।

ननु प्रश्नोऽयं समुदेति यत् भगवतः उपासना सांप्रतिकसमाजे किमर्थं क्रियते? यच्च संप्रति वैज्ञानिकयुगे सर्वकार्यं विज्ञानमाध्यमेन प्रयुक्तिविद्यामाध्यमेन संपादयितुं शक्यते। आधुनिकसमाजे यत्किमपि कार्यं क्रियते तत् सर्वं विविधानुसन्धानप्रक्रियाभिः क्रियमाणं वर्तते। अयं तु महान् विषयो उपन्यस्तो वर्तते।

प्राचीनकाले देवानामुपासना एतदर्थमासीत् यत् तस्मिन् काले विज्ञानस्य पराकाष्टा नासीत्। जनाः रोगान्मुक्त्यर्थं विविधानां प्राचीनपद्धतीनामुपयोगं कुर्वन्तः आसन्। परन्तु ईदानीं तु सर्वं कार्यं प्रामाणिकतां विना न सम्भवति। तर्हि किमुत्तरमेतस्य प्रश्नस्य यत् आधुनिकसमाजे जनैः सूर्योपासना करिष्यन्ते।

सांप्रतिककाले सूर्योपासनायाः फलम्

सर्वेषां कर्मणां किमपि फलं सुतरामेव सेव्यं भवति। तदर्थं क्रियमाणस्य कर्मणः फलं मानवः अवश्यं भुङ्क्ते। तदर्थं कथ्यते अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। शुभाशुभानां कार्याणां यत् फलं तदवश्यं प्राप्तव्यं भोक्तव्यं च भवति। देवतामीमांसा प्राचीनसिद्धान्तेषु भिन्नसिद्धान्तो वर्तते। सांस्कृतिकमर्यादायाः परिपालनार्थं तेषां व्यावहारिकविनिमयार्थं च तानि कर्माणि सेव्यानि भवन्ति।

सर्वविधकल्याणनिमित्तं सूर्योपासना

देवेषु प्रत्यक्षविद्यमानः साक्षात् परंब्रह्मणः ज्योतिस्स्वरूपं भवति भगवान् सूर्यदेवः। सः प्रत्यक्षविद्यमानकारणवशादेव प्रत्यक्षं फलं ददातीति समेषां प्राणिनां विश्वासो वर्तते। तदर्थं सर्वैः प्रातः सायंकालीनसन्ध्यायां सूर्यस्योपासनाकर्मणि लिप्ताः भवन्ति। उच्यते – '**स्मरतां सन्ध्ययोनृणं हरन्तं हो दिने दिने।**'

अतो यो मानवः सायं प्रातश्च सान्ध्योपासनायां सूर्योपासना यदि करोति तर्हि सः असंख्यं फलं प्राप्नोति। तदर्थं कथ्यते –

उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते।

(तै. आ. प्र. २. अ. २)

एतत् फलं प्राचीनधर्मग्रन्थेषु उपनिषत्सु प्राप्यते। प्राचीनानां धर्मसिद्धान्तानां स्वीकरणं तथा संस्कृतौ विद्यमानानां विषयाणां स्वीकरणं प्राणिमात्रस्य परमं चरमं च कर्त्तव्यं भवति। तदर्थं सर्वविधकल्याणप्राप्तिनिमित्तं भगवतः सूर्यदेवस्य स्तुतिः उपासना च कुर्यात्।

एतत् फलं प्राचीनशास्त्रेष्वपि समुपलभ्यते। विशेषतया लिङ्गपुराणे अग्निपुराणे भविष्यपुराणे एतस्य च महाफलस्य दृष्टान्तः परिलक्ष्यते। यथा भगवतः सूर्यस्योपासनां कृत्वा देवाः सर्वविधं कल्याणं प्राप्तवन्तः तद्वत् सांप्रतिकसमाजे जनाः सर्वविधकल्याणस्य प्राप्तभाजो भविष्यन्ति।

अस्मिन् सन्दर्भेऽपि पुरातनस्य कल्पस्य रामायणदृष्टान्तोऽपि ग्राह्यो भवति। भगवान् रामः सूर्यस्योपासना युद्धे विजयं प्राप्तुं न केवलं कृतवान्, अपितु सर्वविधकल्याणप्राप्त्यर्थमपि सूर्यस्याराधनां

कृतवान्। सर्वपापानां विनाशनिमित्तमादित्यहृदयस्तोत्रस्य पाठमकरोत्। आदित्यस्य यथा तेजः तत् सर्वं धारणार्थं सूर्यस्य स्तुतिमकरोत्। यथोच्यते –

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम्।
चिन्ताशोकप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ।।

(आ. हृ. स्तो. ५, वाल्मीकिरामायणम्)

असौ सूर्यदेवः सर्वविधकल्याणकारकस्य प्रतिमूर्त्तिरिति अत्र अभिज्ञायते। अस्य देवस्योपासनायां चिन्ताशोकादीनां समेषां विनाशो भवति। तदर्थं स्वतः स्पष्टीयते यत् सूर्योपासना सर्वैः कार्या भवति।

सर्वकार्येषु सफलतायै सूर्योपासना

कल्याणवत्मनि प्रेरितो भूत्वा मानवः तावता अग्रसरति येन सः धर्मार्थकाममोक्षाख्यानां चतुर्विधपुरुषार्थानां प्राप्तिं कर्तुं शक्नोति। प्रारब्धस्य कर्मणः फलं तथा तत्सिद्धिः सर्वेषां काम्या वर्तते। अतः सर्वेषु कार्येषु सिद्धिनिमित्तं सांप्रतिकसमाजे सूर्योपासना कर्त्तव्या भवति। विविधानां यागयज्ञानां फलं यथा लभ्यते मानवः तादृशं फलमत्र सूर्योपासनायां प्राप्यते। तदर्थमादित्यहृदये प्रोच्यते –

एनमापत्सु कृच्छ्रेषु कान्तारेषु भयेषु च।
कीर्तयन् पुरुषः कश्चिन्नावसीदति राघव ।।

(आ. हृ. स्तो. २५, वाल्मीकिरामायणम्)

अर्थात् यः पुरुषः विपत्तौ दुर्गमे तथा कस्मिंश्चिदपि भये पतित्वा सूर्योपासना क्रियते तर्हि सः सूर्यस्य अनुग्रहमवश्यं प्राप्स्यति। इदं च वचनं अगस्त्यमुनेः वर्तते।

सर्वविधपापानां विनाशार्थं सूर्योपासना

आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकादितापत्रये पतित्वा मानवः कञ्चित् भिन्नमार्गं प्रति अग्रगामिनं भवितुं वाञ्छति। अतः यदि पापात् न मुञ्चति तर्हि सः धर्मार्थकाममोक्षाख्यानां पुरुषार्थानां प्राप्तिनिमित्तं योग्यो भवितुं न अर्हति। आदित्यहृदयमण्डलात्मकस्तोत्रे एवं हि प्रोच्यते यत् –

यन्मण्डलं गूढमतिप्रबोधं धर्मस्य बुद्धिं कुरुते जनानाम्।
यत्सर्वपापक्षयकारणं च पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम्।।

(आ. हृ. मण्डलात्मकस्तोत्रम् ५)

यः मानवः धर्मपथि गन्तु प्रयतते सः सूर्यस्योपासनायाः प्रमुखं फलं भुङ्क्ते। सूर्यदेवः तस्य समूलं पापं विनाशयितुं प्रभवति। अतः यः सूर्यदेवः सर्वेषां मण्डलानां वेदविदां योगिनामनुगमने समर्थः तस्मै सूर्याय स्तूयते। तस्य च प्रसादेन सर्वे पापात् विनिर्मुक्ताः भूत्वा पवित्रतां विन्देयुः। तदर्थं स्तूयते यत् –

यन्मण्डलं वेदविदोपगीतं यद्योगिनां योगपथानुगम्यम्।
तत्सर्ववेदं प्रणमामि सूर्यं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ।।

(आ. हृ. म. स्तो. १२)

रोगानां दूरीकरणाय सूर्योपासना

अस्य च सूर्यस्य स्तवनेन प्राचीनकाले शाम्बप्रभृतीनां कुष्ठरोगोऽपि दूरीभूतः संजातः इति कथा श्रूयते।

किञ्च सूर्यस्य कृते आरोग्यं भास्करादिच्छेद् इति मस्त्यपुराणोक्तं वचनं तस्य दार्ढ्यतां प्रतिपादयति। श्रीमद्भागवतपुराणोक्तं तेजस्कामो विभावसुम् इति श्लोकात् तेजः प्राप्तिनिमित्तं सूर्यः परमसहायको भवतीति निनादः श्रूयते। तदर्थं एवं स्पष्टीयते यत् सांप्रतिकसमाजे विविधानां रोगाणां विनाशाय सूर्योपासना तथा सूर्यस्य वन्दना करणीया भवति।

सांप्रतिकसमाजे सूर्यनमस्कारस्य महान् आदरः परिलक्ष्यते। शारीरिकव्याधीनां विनाशार्थं तथा सुष्ठु शरीरप्राप्तिनिमित्तं सूर्यनमस्कारः प्रातःकाले प्रायशः अशीतिप्रतिशतं जनैः क्रियमाणो भवति। अस्य मतस्य दृढीकरणं शुक्लयजुर्वेदे सर्वादौ प्राप्यते यत् –

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्यः।
विश्वमाभासिरोचनम्।। (शुक्लयजुर्वेद, ३३.३६)

सर्वेषां रोगाणामपहारकत्वेन सूर्यः वावन्द्यते। जीवजगतः सकलानां व्याधिगतदुःखानां निवारणे असौ सूर्यः समर्थः। तदर्थं सूर्योपासनां कृत्वा स्वास्थ्यस्य सुष्ठुविनिर्माणं कृत्वा दीर्घजीविभवितुं शक्यते। अस्य मतस्य समर्थनं स्कन्दपुराणे प्राप्यते यत् –

'सूर्यो नीरोगतां दद्याद् भक्त्या यैः पूज्यते हि सः।' (स्कन्दपुराण, २.३.१५)

सूर्यस्य रश्मी समेषां रोगाणां दूरीकरणे समर्था भवति। अस्य वैज्ञानिककारणं प्रामाण्यं च सर्वजनविदितमेव। यदि कश्चित् रुग्णो भूत्वा तिष्ठति तथा चर्मगतव्याधिषु प्रपीडितो भवति तर्हि सः प्रातः कालीनसूर्यस्य समीपे किञ्चित् कालं तिष्ठतीति वैद्याः अपि आमनन्ति। अतः इमानि प्रामाण्यानि प्रायशः सूर्यस्य रोगनिवारकतां दर्शयितुं प्रयासः बहु नापेक्ष्यते।

प्राचीनसंस्कृतेः संरक्षणार्थं सूर्योपासना

वैदिकसंस्कृतेः उपासनाविधिः सांप्रतिकसमाजे विलुप्तप्रायः प्रतीयते। प्राचीनसंस्कृतौ यथा देवोपासनाविधयः समुपवर्णिताः आसन् ते च सर्वे विधयः विलुप्ताः सञ्चाता। अतः नित्यनूतनरूपेण भारतीयसंस्कृते संरक्षणार्थं संवर्धनार्थं तत्रोक्ताः मार्गाः अनुसर्तव्याः। यदि संस्कृतेः सम्यक् परिरक्षणं न क्रियते तर्हि संस्कृतिः भ्रष्टा भवति। प्रचीनैतिह्यस्य संरक्षणं न भूत्वा कलुषितो भवति।

भारतीयसंस्कृतौ देवोपासनाविधिः बहुधा चर्चितो दृश्यते। सर्वेषां वर्णानां जातीनाञ्चारध्यः देवः सूर्यः सायं प्रातश्च द्योतको वर्तते। सर्वे च वर्णाः प्रातः भगवतः सूर्यस्य दर्शनानन्तरं सन्ध्यां कुर्वन्तः भवन्ति सूर्याय अर्घ्यत्वेन तण्डुलं जलमुदकं च तैः सर्वैः प्रदीयते। स्नानं समाप्य सावित्रीजपविधानं विहितं वर्तते। परन्तु सांप्रतिकसमाजे तस्य आदरः न लक्ष्यते। अतः जनैः विविधप्रकारकैः रोगैः आक्रान्तो भूत्वा अकालेन मृत्युवरणं कुर्वन्तः दृश्यन्ते। ये च व्याधयः सांप्रतिकसमाजे उपागताः सन्ति तेषां निवारणे सूर्यरश्मयः समर्थाः भवन्ति। परन्तु तादृशम् अनुसन्धानं तथा गवेषणा संप्रति न प्रतीयते। यदर्थं जनाः रोगाक्रान्ताः भवन्ति।

सूर्यः ईदानीं केवलं ज्योतिस्स्वरूपात्मकत्वेन प्रतीयते। दिनं दिनं तस्य च सूर्यस्य तेजः वर्धते। यत् ग्लोबाल् वार्मिङ्गपदेन व्यवदिष्टो वर्तते। सूर्यस्य यदि तादृशं संस्कृत्यनुगुण विधिविधानं नाचर्यते तदेकस्मिन् दिने सम्पूर्णं विनाशं करिष्यतीति नास्ति सन्देहः।

उपसंहार

लौकिकसंस्कृतसाहित्ये पौराणिकानुशीलनाद् परिज्ञायते यत् सूर्य सकलशक्तेः आधारभूतो वर्तते। स

एव कालरूपः जीवनप्रदायकः भोक्तृभोक्तव्यत्वेन उपतिष्ठति। वैदिकानां आध्यात्मिकचिन्तने परमसहायकश्चासौ सूर्यः बहुभिः स्तोत्रैः स्तूयते।

सहायकग्रन्थसूची

- अमरकोशः, सुधाकरमालवीयः, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, दिल्ली, २०००
- ऋग्वेदसंहिता, श्रीमत्सायणाचार्यविरचित-माधवीयवेदार्थप्रकाशसहिता, श्रीमन्मोक्षमूलरभट्टः, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
- पुराणपर्यालोचनम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, के. ३७. ११७, गोपाल मन्दिरलेन, पो. बाक्स. नं. ११२९, वाराणसी, २२१००१
- श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्, एन्. रामरत्नम्, मैलापुर, मद्रास, १९५८
- स्कान्दमहापुराणम्, नाग पब्लिशर्स, १९८४, ११ ए.यू. ए. पोष्ट ऑफिस विल्डिंग्, जवाहारनगर, दिल्ली, ७
- आदित्यहृदयस्तोत्रम्, ठाकुरप्रसाद एण्ड सन्स, वारणासी।
- आत्मोत्कर्षकस्तोत - सूर्य, डॉ. सुधा गुप्ता, शब्दशक्तिप्रकाशन, कानपुर, उत्तर प्रदेश, २०८०११

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

उपदेशेऽजनुनासिक इत्[१] सूत्रस्य नियम्यनियामकभावविमर्शः

अनुश्रुतिः दुबे*

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थस्य सञ्ज्ञाप्रकरणे पठितमिदमित्सञ्ज्ञा विधायकं सूत्रम्। अस्य सूत्रास्योपस्थापनस्य प्रयोजनं स्पष्टयति बालमनोरमाटीकाकारः आचार्यः वासुदेव दीक्षितः –

लण्सूत्रेऽकारश्चेति प्रतिज्ञातम्। तस्य अकारस्य अनन्त्यत्वादहल्त्वाच्च हलन्त्यमिति इत्सञ्ज्ञायामप्राप्तायां तत्प्रापकं सूत्रमाह – उपदेशे .....इति।

अयमाशयः ग्रन्थकृता श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन आदौ मङ्गलाचरणं विधाय माहेश्वर वर्णसमाम्नायः समुपस्थापितः। वर्णसमाम्नाये अइउण्, ऋलृक् इत्यादिषु सूत्रेषु अन्त्यवर्णानां ण् क् इत्यादीनाम् इत्सञ्ज्ञार्थं हलन्त्यम् सूत्रस्य प्रवृत्तिर्भवति। एषाम् इत्संज्ञाप्रयोजनम् अण् अक् अच् इत्यादिसंज्ञासिद्ध्यर्थम्। सञ्ज्ञासिद्धौ प्रत्याहारनिर्मितिः। अत्र 'र' प्रत्याहारसिद्ध्ये 'लण् सूत्रेऽकारश्च' इति ह्यवधार्य प्रतिज्ञातस्य अनुनासिकस्य अकारस्य इत्सञ्ज्ञाविधानाय प्रवर्तते सूत्रमिदम् 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति।[२]

उपदेशपदार्थविचारः

को नाम उपदेशः इत्येवं जिज्ञासिते सति समाधत्ते आचार्यः –

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशाः उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।[३]

'उपदेश आद्योच्चारणम्' इति सिद्धान्तकौमुदीकारः। अत्र उप आद्यर्थकः दिशि उच्चारणे इति भावे घञन्तः। अच् पदे कुत्वाभावः निपातनात् निर्धारितः। यथाहि बालमनोरमाकारः – अजित्सञ्ज्ञः स्यादिति विवरणे तु कुत्वाभावः असन्देहार्थः। भगवता भाष्यकृतापि 'कथमनच्त्वम्' इति भाष्यप्रयोगेऽपि कुत्वाभावः प्रदर्शितः। अज्भिरव्यवहिताः, अजन्ताङ्गस्य, अजन्तपुल्लिङ्गाः। इत्यादयो दीक्षितप्रयोगो अपि अत एव सिद्ध्यन्ति।[४]

अनुनासिकपदार्थविचारः

निपातानामनेकार्थत्वात् 'अनु' इत्यस्य अर्थः 'अभिहत्य व्यक्तः' न तु कण्ठादिस्थानान्तरेणोच्चार्य अनु पश्चान्नासिकां गतः। अतः नासिकाम् अभिहत्य व्यक्तः। प्रकाशित इत्यर्थः। अत्र लक्ष्मीव्याख्याकारः – यद्यपि 'वाक्यार्थबोधे पदार्थोपस्थितिः कारणम्' इति नियमेन अत्रैवानुनासिकसञ्ज्ञाशास्त्रस्य लेख उचितस्तथापि नासिकामनुगत इति पूर्वोक्तयोगार्थाश्रयणेनैव कार्यसिद्धौ अनुनासिकसञ्ज्ञाशास्त्रं योगार्थानभिज्ञं प्रति अनुनासिकपदार्थज्ञानार्थम्।[५]

---

* अनुसन्धात्री, संस्कृत विभागः, जयनारायणव्यासविश्वविद्यालयः जोधपुरम्, राजस्थानम्

प्रकृतसूत्रविमर्शः

लघुशब्देन्दुशेखरकारेण श्रीमता नागोजिट्टेन प्रकृत सूत्रस्य उपदेशे, इदन्त्यम् अच्, अनुनासिकः रूपेण योगविभागं सम्पाद्य क्रमशः एषां त्रयाणां सूत्रार्थः व्यवस्थापितः यत् – उपदेशे योऽन्त्यो वर्णः स इत्सञ्ज्ञको भवतु।

द्वितीये 'अच्' पदे उपदेशे इत् पदयोरनुवर्तनेन उपदेशे अजित्सञ्ज्ञकः स्यादित्यर्थः कर्तव्यः। तृतीये च 'अनुनासिकः सूत्रे पूर्व सूत्रतः उपदेशे इदन्त्यम्' इत्यतः उपदेशे इत् पदयोः द्वितीयेन च सूत्रेण 'अच्' पदानुवर्तनेन उपदेशे अनुनासिकोऽजित्सञ्ज्ञः स्यात् इत्येवंविधः सूत्रार्थः निष्पद्यते। एषु तृतीयसूत्रस्यैव नियमार्थताङ्गीकरणीया भवति।

अस्य कारणमिदं यत् 'उपदेशेऽन्त्स्य अनुनासिकस्य च इत्सञ्ज्ञा' 'अच्' इति द्वितीयेन सूत्रेण सिद्धा एवञ्च उपदेशे अन्त्यस्य अनुनासिकस्य अच् इत्वमुपदेशे इदन्त्यम् इति प्रथमेन सूत्रेण सिद्धाऽस्ति। अतः व्यर्थं सत् इदं सूत्रं नियमयति यत् द्वितीयमेव सूत्रं नियामकं तर्हि 'अच्चेदित्तर्हि अनुनासिक एव नियमस्यास्य न भवति किमपि स्वतन्त्रं फलम्। अस्यां स्थितौ अजनुनासिक इत्येव योगः करणीयः भविष्यति फलतः विधिरयं निष्पन्नतां यास्यति यत् उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्सञ्ज्ञः स्यात्। इत्थमिदं नियमसूत्ररूपं प्रवर्तितं भवति।[६]

यदि 'अच्' इत्यस्यैव नियमनं करणीयं भवति तर्हि अननुनासिक अचि अस्य प्रवृत्तिः नैव भविष्यति। अतः अच् इत्यस्य सूत्रस्य फलाभावेन योगविभागसामर्थ्यात् व्यवहिते प्रथमेऽपि सूत्रे नियमस्यास्य क्रियान्वितिः भवति। अतः उपदेशे इदन्त्यम् सूत्रेणोभयोरनुनासिकाननुनासिकयोः अन्त्यस्याचः इत्संज्ञायां प्राप्तौ सत्यामनेन नियमसूत्रेण अनुनासिकस्यान्त्यवर्णस्य इत्सञ्ज्ञायाः व्यवस्थापनं भवति। एवमेव 'अच्' इति सूत्रेणापि उभयोरन्त्यानन्त्ययो च इत्संज्ञा प्राप्तौ सत्याम् अनुनासिकस्यैव इति नियमेन अनुनासिकभिन्नस्याचः इत्संज्ञाव्यावृत्तिः सिद्ध्यति।

सिद्धान्तचिन्तामणिकर्तुरभिमतम्

सिद्धान्तचिन्तामणिकृता आचार्यप्रवरेण श्रीमता रामप्रसादत्रिपाठिमहोदयेन नियमसूत्रस्या-स्योद्देश्यतावच्छेदकं तत्स्वरूपं च सुविचार्य यदभिमतं प्रकटीकृतं तदित्थम् –

औपदेशिकसमुदायघटकस्याच इत्सञ्ज्ञा चेत्तर्हि अनुनासिकस्यैवाच इति नियमाकारः फलति। तेन भू-रु- जि प्रभृतिधातुषु अन्यत्र चानुनासिकस्याचः प्रथमसूत्रेण प्राप्तस्येत्त्वस्य व्यावृत्तिः सिद्ध्यति।[७]

अत्रेयं जिज्ञासोदेति यत् 'अनुनासिकचेदित्संज्ञस्तर्हि अजेव, एवंविधः विरुद्धनियमः कथं न चरितार्थतामेति? समाधत्तेऽत्र आचार्यप्रवरः यत् क्ङिति च ञ्नित्यादिर्नित्यम्, मिदचोऽन्त्यात्परः इत्यादि सूत्रसामर्थ्येन विरुद्धनियमाभावः सिद्ध्यति। अन्यथैतस्य विरुद्धनियमस्य चरितार्थतायां अनुनासिकानां 'ङ ण न म ञ' सदृशहल्वर्णानाम् इत्सञ्ज्ञायाः नियमेन वारणं भविष्यति। अस्यां स्थितौ यद्यपि हलन्त्यम् इत्यस्यान्योन्याश्रयदोषपरिहाराय सम्पूर्णस्य सूत्रस्यावृत्तिः नैव करणीया भविष्यति हल्पदग्रहणमपि नैव स्वीकरणीयं भविष्यति तथापि योग विभागसामर्थ्याश्रयणे नियम्यनियामकभावाश्रयणे ज्ञानगौरवमापतत्येव। अत एद्वारयितुं कण्ठताल्वाद्यभिघातादुत्पन्नः गौरवः नैव आदर्तव्यः नैव च ज्ञानगौरवः आदर्तव्य इत्येवमस्ति राजाज्ञा प्रमाणभूत आदेशो वा।[८]

निष्कर्षतः विवेचयितुं शक्यते यत् सूत्रभेदं तमुपाचरन्ति यत्र तदेव सूत्रं भूयोऽन्यद् वा क्रियते,

यत्रोपसंहृत्य क्रियते नासौ सूत्रभेदः दोषाय भवति इति भाष्यकृत् सिद्धान्तोऽपि नानुकूल्यं भजते हल्ग्रहणाकरणेऽपि ज्ञानगौरवस्यातिशयेन उपसंहृत्य करणाभवात्।

सन्दर्भाः

१. पाणिनीयसूत्रम्, १.३.२

२. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, प्रकृतसूत्रस्था बालमनोरमा, पृ. ७

३. पूर्ववत्।

४. प्रकृतसूत्रस्था (लक्ष्मी व्याख्या), पृ. १८

५. पूर्ववत्।

६. प्रकृतसूत्रस्थः लघुशब्देन्दुशेखरः।

७. सिद्धान्तचिन्तामणिः, पृ. ९

८. सिद्धान्तचिन्तामणिः पृश्ठ १०

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. - 2023

श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रिगुणविमर्शः

डॉ. गुंजन गर्गः*

शोधसारांशः – संस्कृतवाङ्मये श्रीमद्भगवद्गीतायाः विशिष्टस्थानं वर्तते। ग्रन्थोऽयं विश्वप्रसिद्धो दार्शनिकग्रन्थोऽस्ति, यत् उपनिषदां गूढज्ञानं सरलतया जनहृदयबोध्यं करोति। महर्षिवेदव्यासेन विरचितस्य महाभारतस्य भीष्मपर्वणि अष्टादशाध्यायेषु वर्णितो ग्रन्थोऽयं ईश्वर–आत्मा–सांख्ययोग–कर्मयोग–भक्तियोग–विभूतियोग–त्रिविधगुणादीनां वर्णनं करोति। अत्र सत्–रजस्–तमस् इत्यादीनां स्वरूपाहारयज्ञदानतपनिष्ठाफलादीनां वर्णनमेव शोधपत्रस्यास्य प्रतिपाद्योऽस्ति। अत्र त्रिविधगुणेभ्यः पृथक् भूत्वा कर्मणः शिक्षा प्रदत्ता। मानवः त्रिविधगुणेभ्यः गुणातीतः भूत्वा एव परब्रह्मपरमात्मनः साक्षात्कारं कर्तुं शक्यते अमरत्वं च प्राप्तुं शक्यते।

मुख्यबिन्दवः – श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीकृष्णः, अर्जुनः, त्रिविधगुणः, सत्त्वगुणः, रजोगुणः, तमोगुणः, यज्ञः, तपः, दानम्, आहारः, निष्ठा, फलम्, गुणातीतः, ब्रह्म, मुक्तिः, अमरत्वं चेत्यादयः।

संस्कृतसाहित्ये श्रीमद्भगवद्गीता जनप्रिया विश्वप्रसिद्धा च दार्शनिककृतिः अस्ति। ग्रन्थोऽयं न केवलं उपनिषदां दार्शनिकतत्त्वानां विवेचनं करोति, अपितु मानवानां कृते कर्तव्यबोधनमपि कारयति। दार्शनिकप्रस्थानत्रय्यां विशिष्टेयं 'गीता' महाभारतस्य भीष्मपर्वणः पञ्चविंशति इति अध्यायात् द्विचत्वारिंशत् इति अध्यायपर्यन्तं अष्टादशाध्यायेषु वर्णिता। गीता इति ग्रन्थेन प्रतिपादितः पथः विविधाध्यात्मिकप्रवृत्तीनां जनानां कल्याणप्रदः। गीता सर्वजनानां मुक्तिद्वारः वर्तते। इयं गृहस्थानाम् उपनिषदपि कथ्यते।[१] गीतायाः महत्त्वमभिव्यनक्ति श्लोकोऽयम्–

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।।

श्रीमद्भगवद्गीतां कर्मयोगः, सांख्ययोगः, भक्तियोगश्च विस्तृतरूपेण वर्णिताः। तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपं, जीवेश्वरसम्बन्धः, जीवबंधकप्रकृतिवर्णनं, स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं महत्त्वं च, विविधयज्ञानामुपादेयता, त्रिविधगुणं सविज्ञानज्ञानवर्णनं, भगवतः स्वरूपं विश्वरूपं च, योगारूढ़ानां योगाभ्रष्टानां पुरुषाणां गतिवर्णनमित्यादीनां प्रसंगानुसारेण विविधविषयाणां प्रतिपादनं कृतम्। ग्रन्थेऽस्मिन् सत्–रजस्–तमस् इति प्रकृतिजन्यत्रिविधगुणानां वर्णनं कुर्वन् गुणातीतः भवितुं शिक्ष्यते। एतेषां वर्णनं निम्नबिन्दुषु द्रष्टुं शक्यते –

१. त्रिविधगुणोत्पत्तिः – श्रीमद्भगवद्गीता श्रीकृष्णेन सत्–रजस्–तमस् इति त्रिविधगुणाः प्रकृतिसम्भवाः मताः। यथोक्तं गीतायाम् –

सत्त्वरजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।[२]

---

* सहायकाचार्याः (संस्कृतः), राजकीय स्नात्तकोत्तरः महाविद्यालयः करौली, राजस्थानम्

अन्यत्रापि चोक्तम् –

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।[३]

प्रकृतिजन्याः गुणाः एव समग्रं कार्य कुर्वन्ति, किन्तु अज्ञानी मानवः स्वयमेव कर्माणां कर्ता स्वीकारोति, यथोक्तम् –

प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।[४]

तत्रैकस्मिन् स्थाने श्रीकृष्णेन स्वयं गुणानां कर्ता उद्घोषिता – **चार्तुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**[५] अन्यत्र च श्रीकृष्णः स्वयं गुणेभ्यः पृथक् अपि स्वीकारोति –

ये चैव सात्त्विकभावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।[६]

२. त्रिविधगुणानां स्वरूपम् – त्रिविधगुणाः स्वकीयां पृथक्–पृथक् विशेषतां स्वीकुर्वन्ति। ते परस्परं प्रभावयन्ति अपि।

(अ) सत्त्वगुणः – सत्त्वगुणः निर्मलत्वात् प्रकाशकः निर्विकारश्च। गुणोऽयं सुखेन ज्ञानरागेण देहिनं बध्नाति। यथोक्तं गीतायाम् –

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।[७]

प्रारम्भे सत्त्वगुणस्य सुखः विषवत् परिणामे च अमृतवत् भवति। उक्तं च –

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।[८]

पापरहितः रजोगुणरहितः शान्तमनः ब्रह्मरूपयोगी एवं सत्त्वसुखं प्राप्नोति।[९] सात्त्विको कर्त्ता रागरहितः, अनहंवादी, धैर्योत्साहपूर्णः, सिद्धयसिद्धयोः निर्विकारश्च भवति।[१०] सः सात्त्विकज्ञानेन सर्वेषु प्राणिषु अविभक्तं भावमव्ययं पश्यति।[११] अनेन सात्त्विकज्ञानेन समृद्धः सात्त्विककर्त्ता शास्त्रविधिसम्मतं कर्तृत्वाभिमानरहितं फलेच्छारहितं रागद्वेषरहितं सात्त्विककर्माणि करोति।[१२] सात्त्विककर्तुः प्रज्ञापि सात्त्विकी भवति। सा सात्त्विकीबुद्धिः प्रवृत्तिनिवृत्तिं कर्तव्यमकर्तव्यं भयमभयं बन्धनमोक्षं च सम्यकतया जानाति।[१३] सात्त्विकबुद्धिमतः सात्त्विककर्तुः ईश्वरोन्मुखी समत्वभावपूर्णा धृतिरपि सात्त्विकी भवति्, यथोक्तम् –

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।[१४]

यदा मानवशरीरे सत्त्वगुणं वर्धते, तदैव तस्मिन् प्रकाशं ज्ञानञ्च प्रकटिते। उक्तं च –

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।[१५]

(ब) रजोगुणः – तृष्णासक्तयोः जायमानः रजोगुणः रागयुक्तः भवति। सः कर्मणां रागेण देहिनं

बध्नाति–

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।[१६]

रजोगुणात् कामरूपी क्रोध जायते। उक्तं च –

काम एष क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः।[१७]

राजससुखोऽयं प्रारम्भे अर्थैन्द्रियसंयोगात् अमृतवत् परिणामे च विषवत् भवति।[१८] रजोगुणी कर्त्ता रागी, कर्मफलप्रेप्सुः, लुब्धो, हिंसात्मकः, अशुचिः, हर्षशोकान्वितः च परिकीर्तितः।[१९] राजसकर्ता सर्वेषु भूतेषु पृथक्त्वेन नानाभावान् जानाति।[२०] कामेप्सुना साहंकारेण पुरुषेण यत् कर्म क्रियते तत् राजसम् उदाहृतम्।[२१] स धर्ममधर्मं च कार्यमकार्यञ्च सम्यकरूपेण न जानाति।[२२] तस्य धृतिरपि फलाकाङ्क्षी धर्मकामार्थयुक्ता भवति, यथोक्तम् –

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयते अर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।[२३]

रजोगुणस्य वर्धने लोभः, प्रवृत्तिः, कर्माणां प्रारम्भः, अशान्तिः, अस्पृहा चोत्पन्नाः भवन्ति, यथोक्तम्–

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।[२४]

(स) तमोगुणः – अज्ञानात् प्रभवः, मानवानामाकर्षकः तमोगुणः प्रमादालस्यनिद्राभिः मानवान् बध्नाति। उक्तं च गीतायाम् –

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।[२५]

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं सुखं आरम्भे परिणामे च आत्मानं मोहयुक्तो करोति।[२६] तामसकर्त्ता अयुक्तः, अशिक्षितः, स्तब्धः, शठः, अलसः नैष्कृतिकः, विषादी, दीर्घसूत्री च भवति।[२७] सः चातात्त्विकः तुच्छश्च भवति।[२८] तामसकर्म परिणामं, हानिं, हिंसा, पौरुषं चानवेक्ष्य मोहादारभ्यते।[२९] तामसकर्त्ता अधर्मं धर्मं मन्यते। सः कर्तव्याकर्तव्ययोः भेदं न ज्ञायते।[३०] तस्य बुद्धिरपि तामसी बुद्धिः कथ्यते। तामसकर्तुः धृतिरपि तामसी भवति। उक्तं च –

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।[३१]

विवृद्धे तमोगुणे अप्रकाशः, अप्रवृतिः मोहश्चादीनां प्रवृत्तयः उत्पादिताः भवन्तिः।[३२]

एवमेव सत्त्वगुणः नरं सुखे नियोज्य रजोगुणः मानवं कर्मणि संयुज्य तमोगुणश्च ज्ञानमवृत्य प्रमादे संयुज्य विजयन्ति।[३३] सत्त्वगुणात् ज्ञानं रजोगुणात् च लोभः तमोगुणात् अज्ञानप्रमादमोहाः जायन्ते।[३४] रजस् तमश्चाभिभूय सत्त्वं वर्धते। सत्त्वं तमश्चाभिभूय रजस्, सत्त्वं रजश्च तिरस्कृत्य तमस् वर्धेते।[३५]

३. त्रिविधः आहारः – सात्त्विककर्त्रेः आयुः, सत्त्वगुणं, शक्तिं, नीरोगतां, सुखं प्रसन्नतां च वर्धकं भोजनं स्वदते। सहैव सरसं, स्निग्धं, स्थिरं, हृदयवर्धकं चाहारं प्रियं भवति, यथोक्तम् –

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।[३६]

राजसजनाय कुटुम्, अम्लं, लवणयुक्तं , अत्युष्णम्, अतितीक्ष्णं, रुक्षं, शरीरदाहकं चाहारं रोचते। यः आहारः शरीरे कष्टं दुखं शोकं च जनयति।[३७] तामसजनाय अर्धपक्वं, रसरहितं, दुर्गन्धयुक्तं पर्युषितम्, उच्छिष्टम् अपवित्रं च भोजनं प्रियं भवति।[३८]

४. त्रिविधः यज्ञः – श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रिविधगुणविषयकः त्रिविधयज्ञः उल्लेखितः। सात्त्विकयज्ञः शास्त्रविधिना मनः नियम्य निरासक्तो भूत्वा यज्ञकर्तव्यरूपभावेन क्रियते।[३९] राजसयज्ञं तु साभिलाषम् अहङ्कारपूर्वकं अन्यजनेभ्य दर्शनाय प्रारभ्यते, यथोक्तम् –

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।[४०]

शास्त्रविधिहीनम् अन्नादिदानरहितं, मंत्ररहितम्, अदक्षिणं अश्रद्धया यत् क्रियते तत् तामसं यज्ञं कथ्यते।[४१]

५. त्रिविधः तपः – त्रिविधयज्ञवत् त्रिविधतपः भवति। सात्त्विकः फलेच्छारहितो भूत्वा मनसा वाचा कर्मणा तपं करोति। उक्तं च–

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।[४२]

राजसजनः सत्कारमानपूजार्थम् अहङ्कारेण पाखण्डेन च तपं करोति। सः राजसतपः उक्तः। तस्य तपस्य फलं क्षणिकमनिश्चितं भवति।[४३] तामसतपः मोहवशात् हठात् स्वस्य कृते परस्य कृते च पीडादायकः भवति।[४४]

६. त्रिविधं दानम् – त्रिविधगुणप्रधान्यात् त्रिविधं दानं भवति। सात्त्विकदानं राजसदानं तामसदानं च। सदैव दानं कर्त्तव्यमनेन भावेन यत् दानं समुचितस्थाने उचितकाले सुपात्रे अनुपकारिणे च दीयते तदैव सात्त्विकदानं कथ्यते। उक्तं च –

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च सात्विकं स्मृतम्।।[४५]

यत् दानं क्लेशेन प्रत्युपकाराय फलप्राप्त्यर्थं प्रशंसार्थं दीयते तत् दानं राजसमुक्तम्।[४६] तामसदानं तु अवज्ञापूर्वकम् अश्रद्धया अनुचितदेशकाले कुपात्रेभ्यः दीयते।[४७]

७. त्रिविधा निष्ठा – मानवानां त्रिविधगुणानुसारेण त्रिविधा निष्ठा भवति। सात्त्विकाः देवगणान् यजन्ते। राजसाः यक्षसुरान् तामसाः च प्रेतान् भूतगणान् च पूज्यन्ते। यथोक्तम् –

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।[४८]

८. त्रिविधं फलम् – मानवः त्रिविधगुणसंगत्या विविधयोनिषु जायते।[४९] सत्त्वगुणस्य वर्धने मरणोपरान्ते स उत्तमविदाममलान् लोकान् प्राप्नोति, यथा –

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।।[५०]

रजोगुणे प्रवृद्धे देहावसाने सः मानवयोनिषु जायते। तामसगुणवर्धने मृत्यूपरान्ते पशवादिषु मूढ़योनिषु जायते।[५१]

एवमेव सत्त्वगुणे स्थिताः मानवाः ऊर्ध्वलोकान् गच्छन्ति। राजसाः मृत्युलोके तामसाः च निम्नयोनिषु प्रवर्तिताः। उक्तं च –

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।[५२]

९. त्रिविधगुणात् अनासक्तिः – श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णेन स्पष्टतः स्वीकृतः यत् त्रिविधगुणेन मोहितः जगत् अव्ययमेश्वरं नाभिजानाति।[५३] त्रिविधगुणमयी मायापि कठिनतया अत्येति। ईश्वरशरणेनैव एतां मायां जेतुं शक्यते।[५४] प्रकृतिस्थो पुरुषः प्रकृतिसम्भवस्य त्रिविधगुणस्य भोक्तां भवति। तस्मात् कारणादेव सदसदयोनिषु जायते।[५५] सर्वे सत्त्वाः दिवि देवेषु पृथिव्यां च त्रिविधगुणात् रहिताः न सन्ति।[५६] अतः श्रीकृष्णेन कथितम् हे पार्थ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः त्वं गुणरहितः, निर्द्वन्द्वः नित्यसत्त्वस्थः, निर्योगक्षेमः आत्मवान् च भव।[५७] अत्र प्रतिपादितं यत् प्रकृतिजन्यगुणाः एवं गुणेषु वर्तन्ते अनेन भावेन कर्माणि करणीयानि, यथोक्तम् –

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।[५८]

यदा ज्ञानवान् मानवः विविधगुणेभ्यः पृथक् कमपि कर्तारं न पश्यति स्वयमपि च गुणेभ्यः पृथक् अनुभूयते तदैव ईश्वरोन्मुखः भवति।[५९] श्रीमद्भगवद्गीतायां गुणातीतानां मानवानां विशेषता उक्ता –

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वरम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।[६०]

मानवः एतस्मात् त्रिविधगुणात् अतिक्रम्यैव ब्रह्म प्राप्नोति – **स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।**[६१] गुणातीतः मानवः जन्ममरणजराणां दुखेभ्यः अतीत्य अमरत्वं लभते उक्तं च –

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।[६२]

इत्थं श्रीमद्भगवद्गीतायां सत् रजस् तमस् इत्येषां गुणानां स्वरूपवर्णनं कृतम्। मानवजीवने गुणानां प्रभावोऽपि अत्र वर्णितः। मानवस्य विभिन्नसदसदयोनिषु जन्मनः कारणमपि त्रिविधगुणमस्ति। अतः मानवः त्रिविधगुणं विजित्य अर्थात् त्रिविधगुणात् गुणातीतो भूत्वा एव ईश्वरोन्मुखो भवितुं शक्यते। तत्पश्चात् सः ब्रह्मभूयाय कल्पते अमृतत्वं चाश्नुते।

सन्दर्भ-सूची

१. रामधारी सिंह 'दिनकर', 'संस्कृति के चार अध्याय' इति, पृ. सं., पृ. १८६

२. श्रीमद्भगवद्गीता, १४.५

३. तत्रैव, १३.१९, ३.२९, प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जते गुणकर्मसु।

४. तत्रैव, ३.२७
५. तत्रैव, ४.१३
६. तत्रैव, ७.१२
७. तत्रैव, १४.६
८. तत्रैव, १८.३७
९. तत्रैव, ६.२७
१०. तत्रैव, १८.२६
११. तत्रैव, १८.२०
१२. तत्रैव, १८.२३
१३. तत्रैव, १८.३०
१४. तत्रैव, १८.३३
१५. तत्रैव, १४.११
१६. तत्रैव, १४.७
१७. तत्रैव, ३.३७
१८. तत्रैव, १८.३८
१९. तत्रैव, १८.२७
२०. तत्रैव, १८.२१
२१. तत्रैव, १८.२४
२२. तत्रैव, १८.३१
२३. तत्रैव, १८.३४
२४. तत्रैव, १४.१२
२५. तत्रैव, १४.८
२६. तत्रैव, १८.३९
२७. तत्रैव, १८.२८
२८. तत्रैव, १८.२२
२९. तत्रैव, १८.२५
३०. तत्रैव, १८.३२
३१. तत्रैव, १८.३५
३२. तत्रैव, १४.१३
३३. तत्रैव, १४.९
३४. तत्रैव, १४.१७
३५. तत्रैव, १४.१०
३६. तत्रैव, १७.८
३७. तत्रैव, १७.९
३८. तत्रैव, १७.१०
३९. तत्रैव, १७.११
४०. तत्रैव, १७.१२
४१. तत्रैव, १७.१३
४२. तत्रैव, १७.१७
४३. तत्रैव, १७.१८
४४. तत्रैव, १७.१९
४५. तत्रैव, १७.२०
४६. तत्रैव, १७.२१
४७. तत्रैव, १७.२२
४८. तत्रैव, १७.४
४९. तत्रैव, १३.२१
५०. तत्रैव, १४.१४
५१. तत्रैव, १४.१५
५२. तत्रैव, १४.१८
५३. तत्रैव, ७.१३
५४. तत्रैव, ७.१४
५५. तत्रैव, १३.२१
५६. तत्रैव, १८.४०
५७. तत्रैव, २.४५
५८. तत्रैव, ३.२८, तत्रैव, १४.२३
५९. तत्रैव, १४.१९
६०. तत्रैव, १४.२४, १४.२५
६१. तत्रैव, १४.२६
६२. तत्रैव, १४.२०

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

स्त्रीणां स्थानं तेषां आन्दोलनस्य भूमिका च

तुशि चक्मा*

संक्षेपः- वैदिककाले स्त्रीदेवताः किञ्चित् निःशब्दाः आसन्, स्वाभाविकतया पुरुषप्रधानसामाजिक-व्यवस्थायाः कारणात्। पत्न्यः धर्मकार्ये भर्तारः सहायतां कृतवन्तः। वैदिककाले सामाजिकोत्सवेषु महिलाः भागं गृह्णान्ति स्म। तस्मिन् समये बालिकानां उपेक्षायाः पूर्वानुमानं नास्ति। बालकानां इव बालिकानां शिक्षायाः समानाधिकाराः आसन्। लोपामुद्रा, विश्ववारा, रोमला, घोषा इत्यादयः स्त्री-ऋषीणां नामानि प्राप्यन्ते वैदिककाले। वैदिककालस्य स्त्रियः नानाकलासु ललितकलासु निपुणाः आसन्। ऋग्वेदे बहवः प्रसङ्गा सन्ति यत्र स्त्रियः युद्धेऽपि शौर्यं दर्शितवन्तः। वैदिककाले स्त्रियाः भूमिका गौरवपूर्णा अत्यन्तं गौरवयुक्ता च आसीत्। परन्तु रामायण-महाभारतयुगे स्त्रियाः स्थितिः सुलभः सरलः च नासीत्। तस्मिन् समाजे विवाह-प्रथाः बहवः आसन्। पञ्चपाण्डवाः द्रौपदीं विवाहम् कृतवन्तः। रामायणे स्त्रियाः अन्तःपुरस्य बहिः गन्तुं अधिकाराः आसीत्। यथा वैदिककाले रामायणे महाभारते भर्त्रा सह हव्यं दातुं अधिकारः आसीत्। रामायणे कौशल्या दशरथस्य यज्ञस्य सहभागी आसीत्। सीतायाः पातालप्रवेशानन्तरं रामचन्द्रः स्वपत्न्याः यज्ञस्य सहभागिन् इति सीतायाः स्वर्णमूर्तिं कृतवान्। मध्ययुगीनकाले भारतीयसमाजस्य महिलानां स्थितिः अधिकतया क्षीणा जाता। बालविवाहस्य प्रसारः, विधवापुनर्विवाहस्य निषेधः च भारतस्य केषाञ्चन समुदायानां सामाजिकजीवनस्य भागः अभवत्। भारतस्य केषुचित् भागेषु कदाचित् देवदासीनां यौनशोषणं भवन्ति स्म। आङ्गलशासनकाले राजाराममोहनरायः ईश्वरचन्द्रविद्यासागरः ज्योतिरावफुले इत्यादयः बहवः समाजसुधारकाः महिलानां उत्थानार्थं युद्धं कृतवन्तः। ईश्वरचन्द्रविद्यासागरस्य कृते १८५६ तमे वर्षे विधवापुनर्विवाहविधिः उत्तीर्ण अभवत्। रानीलक्ष्मीबाई भारतस्य महान् महिलास्वतन्त्रतासेनानीषु अन्यतमा आसीत्। सा आङ्गलानां विरुद्धे वीरतया युद्धं कृतवती। मातङ्गिनी हाजरा मेदिनीपुरस्य उदात्तनायिका आसीत्। सरोजिनी नायडुः भारतीयस्वतन्त्रता-आन्दोलनस्य सक्रियः योद्धा आसीत्। आधुनिककाले महिला-आन्दोलनानां मुख्यं उद्देश्यं प्रचलित-लैङ्गिक-भेदभावस्य विरुद्धं महिलानां जागरूकतां वर्धयितुं, मानवाधिकार-उल्लङ्घनस्य न्यूनीकरणाय च आसीत्।

उपक्रमणिका - भारते नारीवादः महिलानां राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक-समानतायाः स्थापनार्थं रक्षणार्थं च आन्दोलनम् अस्ति। भारतराज्ये महिलानां अधिकारान् स्थापयितुं एतत् आन्दोलनम् अस्ति। अन्येषु देशेषु नारीवादी आन्दोलनस्य इव भारतेऽपि अस्य आन्दोलनस्य मुख्यानि लक्ष्याणि विविधक्षेत्रेषु लैङ्गिकसमानताः, कार्यस्य समानवेतनं, स्वास्थ्ये शिक्षयां च समानाधिकाराः राजनैतिकसमानताः च भवति। भारतस्य विशिष्टपितृसत्तात्मकसामाजिकसन्दर्भे भारतीय-नारीवादिनः अपि केषाञ्चन विशिष्टानां आन्दोलनानां नेतृत्वं कृतवन्तः, यथा- सतीप्रथानिवृत्तिः उत्तराधिकारन्यायस्य च स्थापना। नारीवादः केवलं स्त्रियाः कृते

* अतिथि शिक्षिका, संस्कृतविभागः, धर्मनगरं शासकीय महाविद्यालयं धर्मनगरम्, त्रिपुरा (उः)

एकः सिद्धान्तः नास्ति, नारीवादः एकः जीवनानुभवः अस्ति यः अद्यतनजगते आलोडनं सृष्टिः करोति। अनादिकालात् महिलानां समाजे तेषां स्थानं च विषये बहवः चर्चाः, वादविवादाः च अभवन्। स्त्रीणां स्थितिः तत्कालीनभारतीयसमाजेन सह स्त्रियाः स्थितिः एतावत् निकटतया सम्बद्धा आसीत् यत् सामाजिकपरिवर्तनेन सह सामाजिकमूलसंरचनायाः परिवर्तनेन सह महिलानां स्थानानां परिवर्तनमपि लक्ष्यते। प्रचीनसमाजस्य स्त्रियाः स्थितिः अद्यतनसमाजस्य स्त्रियाः स्थितिः अपेक्षया बहु भिन्ना आसन्। महिलानां स्थितिः अयं परिवर्तनः, भेदः च मुख्यतया समाजस्य, परिस्थितेः च आधारेण सम्भवः अभवत्। अतः नारीवादविमर्शस्य सन्दर्भे भारतीयसमाजस्य महिलानां स्थानविषये चर्चायाः विशेषमहत्त्वं भवितुमर्हति। अस्माकं मुख्यं उद्देश्यं प्राचीनसमाजात् आधुनिकसमाजपर्यन्तं महिलास्थानानां विषये तथा च महिलाकेन्द्रितविमर्शानां नारीवादीदृष्टिकोणानां च विषये प्रकाशं प्रसारयितुं वर्तते।

वैदिककाले स्त्रीणां स्थानम् – पुरुषप्रधानसमाजस्य स्वाभाविककारणात् वैदिककाले स्त्रीदेवताः किञ्चित् निःशब्दाः भवन्ति। देवानां जननी, जाया, कन्या, भगिनी प्रियदर्शिनी च इति नाम्ना प्रसिद्धाः आसन्। परन्तु स्त्रियः अपि विशेषं विशिष्टं च पदवीं प्राप्नुवन्ति स्म। यथा अनन्तश्री समृद्धिशोभासम्पन्नाः स्त्रियः अपि दिव्यतासम्पन्नाः आसन्। ऋग्वेदारम्भे इरा सरस्वती महि इत्यादिनी त्रीणि देवीनि उल्लेखितानि सन्ति। राका, श्रद्धा, कुहु, रात्रिः, आयति, ईषा, अदितिः, ऊर्वशी इत्यादयः स्त्रियः विशेषपदवीं प्राप्य सम्मानिताः आसन्।

विश्वसभ्यतायाः प्रारब्धसमये पितृसत्तात्मकसमाजस्य स्त्रीणां स्थितिविषये विद्वद्भिः प्रस्तुतस्य भयंकरचित्रस्य तुलनायां भारतीयसभ्यतायाः प्रारम्भिककाले स्त्रीणां स्थितिः आधुनिकसभ्यजनानां निकटे अपि अधिकांशः गरिमामयी अकल्पनीयं आदर्शवादी च आसन्। सुशिक्षिताः मातापितरः अपि पुत्रान् पुत्रीभ्यः अधिकं वांछनीयाः मन्यन्ते, न संशयः संहितायुगे अपि पितृसत्तात्मकसमाजिकव्यवस्थायां पुत्राः वांछनीयाः इति मन्यन्ते स्मः, परन्तु वैदिककाले कन्याबालानां उपेक्षायाः पूर्वानुमानं नास्ति। कन्याः अपि पुत्रवत् समाजे शिक्षायां समानाः सहभागिनः आसन्। पुत्रकामना ऋग्वेदस्य बहुसूक्ते दृश्यते।१०.४७.३।। ऋके इन्द्रस्य निकटे बहुगुणयुक्तं पुत्रं कामयते स्म। अपरं तु अथर्ववेदे दृश्यते –

''पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं कन।
अन्तादो गर्भान्मय दभन् वाधश्चेतः किमीदिनः।।'' (अथर्ववेद, ८.६.२५)

कन्यायाः विवाहानन्तरं वृद्धानां मातापितृणां परिचर्या पोषणं च पुरुषाणां दायित्वम् आसन्। एतेषां सर्वेषां कारणात् मातापितरौ सम्भवतः पुत्राणां प्रति पक्षपातपूर्णौ आस्ताम्। परन्तु कन्यानां प्रति अवमानना कुत्रापि न दर्शिता। विवाहपूर्ववर्तीकाले कन्याः बालकाः इव शिक्षिताः आसन्। अथर्ववेदे उक्तम् –

''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति।।''

वैदिककाले अनेकेषां स्त्री-ऋषीणां नामानि प्राप्यन्ते। ते आसन् लोपामुद्रा, विश्ववारा, रोमाला आम्भृणी वाक् इत्यादयः। ऋग्वेदसंहितायुगात् सूत्रसाहित्ययुगपर्यन्तं त्रिषु उच्चजातीनां स्त्रियः पवित्रसूत्रैः दीक्षिताः, ब्रह्मगायत्रीमन्त्रस्य जपं, पवित्रं आधानं वेदादि-शास्त्रपाठं च कुर्वन्ति स्म। स्मृतिकारः यमः उक्तम्–

''पुराकाले कुमारीणां मौञ्जीवन्धनम् इष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा।।''

पुरुषाणाम् इव बालिकानाम् अपि तदा उपनयनं कृतवन्तः। वेदाध्यायने यज्ञे च स्त्रियः भागं गृह्णन्ति स्म। शतपथब्राह्मणे उच्यते – ''**अर्धो ह वा एष यज्ञस्य यत पत्नी।**'' ब्राह्मणग्रन्थे उच्यते – ''**न वै अपत्नीकस्य हस्तात् देवा वलिं गृह्णन्ति।**'' वैदिककालस्य प्रसिद्धा ब्रह्मविदुषी बचक्नुकन्या गार्गी याज्ञवल्क्येन सह ब्रह्मविचारे अवतरितवती।

वैदिककालस्य स्त्रियः नानाकलासु ललितकलासु निपुणाः आसन् । युद्धकलादिषु अन्येषु कठिनेषु कार्येषु अपि उत्कृष्टाः आसन्। मुद्गलस्य मुद्गलानी नामिका पत्नी भर्तुः रथं वीरङ्गना-युद्धक्षेत्रे वाहयित्वा अनेकाः शत्रुसेनाः नाशितवती। अतः वैदिककालस्य महिलानां भूमिकाः समाजस्य अनेकपक्षेषु गौरवपूर्णा विशेषतया च आसन्, परन्तु पश्चात् समाजे भारतीयस्त्रीणां गौरवपूर्णा भूमिकाः क्रमेण क्षीणा जाता।

परवर्ती वैदिककाले स्त्रीणां स्थानम् – महाभारते विविधाः आर्य-अनार्य-समुदायैः निवसन्ति अनेकेषु लघु-बृहत्-राज्येषु विभक्तं भारतस्य प्रतिबिम्बं दृश्यते। तस्मिन् काले समाजे बहवः विवाहप्रथा प्रचलनम् आसीत्। रामायणे राजा दशरथस्य अनेकाः विवाहाः अभवन् यद्यपि तस्य कश्चित् पुत्राः एकाधिकं विवाहं न कृतवन्तः। महाभारते एकस्याः भार्यायाः बहवः पतिः – एषा प्रथा दृश्यते। पञ्चपाण्डवाः द्रौपदीं सह विवाहं कृतवन्तः। राक्षससमाजे अपि बहवः विवाहस्य प्रचलनं आसीत्। स्त्रियः स्वसमाजस्य स्वतन्त्राः अधिकाः आसन्, यतः शूर्पणखाः रामलक्ष्मणयोः विवाहस्य प्रस्तावं दत्तवती। रामायणे स्त्रियः एकस्मिन् विषये स्वतन्त्राः आसन्, सः एव तेषां अन्तःनगरात् बहिः गन्तुं अधिकाराः आसन्। यस्मिन् समये रामः वनवासस्य कृते यात्रा कृतवान् तस्मिन् समये तस्य भार्या तेन सह गतवती। परन्तु तस्मिन् काले स्त्रियाः सामाजिकपदवीं सुरक्षिताः इति वक्तुं न शक्यते, यतः तस्मिन् काले स्त्रियः पुरुषाणां द्रव्यरूपेण उपयुज्यन्ते स्म। पुनः अतिथिसेवायां महिलानां अग्रणी भूमिकाः आसन्। तदतिरिक्तं सीतायाः अग्निना क्लेशः पुनः पुनः सिद्धयति यत् तस्मिन् समये समाजे स्त्रियाः प्रति सहानुभूतिः नासीत्।

पुनः रामायणं दर्शयति यत् स्त्रियः केवलं भर्तुः अनुयायिनः न आसन्, अपितु स्वतन्त्रमतं प्रकटयन्ति स्म। यतः मन्दोदरी रावणस्य पत्नी भर्तुः रूपगुणं शौर्यं चरित्रं च प्रशंसन्ती रावणस्य सीतायाः मोहस्य पर्याप्तं निन्दां कृतवती। पुनः यदा रामचन्द्रादिधर्मबुद्धिपुरुषः सीतां शङ्कयति स्म, तस्य अपमानस्य प्रतिक्रियारूपेण सीता अवदत् – **लोकसाक्षिणी अग्निः मां रक्षतु।** रामचन्द्रादिः विवेकी अपि पारम्परिकसामाजिकव्यवस्थायाः उपरि उत्तिष्ठितुं न शक्तवान्। यः राजा स्वगर्भवतीं भार्यां वने निर्वासयित्वा सिंहासनं त्यजति, यः कदापि एकवारं द्वादशदीर्घवर्षपर्यन्तं पुत्रान् अन्विषत्, सः रामः अस्माकं कृते आदर्शः पुरुषः अस्ति, सीतायाः पतिभक्तिः भारतवर्षे कालातीत आदर्शः अस्ति। तस्मिन् समये एकः अपि वंचितः महिला यः अस्माकं दृष्ट्या सर्वदा निगूढः एव तिष्ठति सा लक्ष्मणस्य पत्नी उर्मिला अस्ति। यदा रामचन्द्रस्य सह भ्रात्रा लक्ष्मणः चतुर्दशवर्षपर्यन्तं निर्वासने आसीत्, तदा लक्ष्मणस्य पत्नी उर्मिला चतुर्दशवर्षपर्यन्तं प्रासादस्य अन्तः भग्नहृदया यापयति स्म। सा तस्य आत्मत्यागस्य सम्यक् गौरवं न प्राप्नोत्। पत्नीसुखवर्जिता परन्तु शाश्वतवधूत्वं विना विरोधं शान्ततया स्वीकृतवती। यथा वैदिककाले रामायणमहाभारते अपि भार्यायाः भर्त्रा सह हव्यं दातुं अधिकारः आसीत्। रामायणे कौशल्या राजा दशरथस्य यज्ञे सहभागी इति दृश्यते। पुनः सीतायाः पातालप्रवेशानन्तरं यदा रामचन्द्रः यज्ञं कृतवान् तदा सः स्वपत्न्याः सहभागित्वेन सीतायाः स्वर्णमूर्तिं कृतवान् ।

मध्ययुगे स्त्रीणां आन्दोलनस्य भूमिकाः – मध्ययुगीनकाले भारतीयसमाजस्य महिलानां स्थितिः

अधिकतया क्षीणा जाता तथा च बालविवाहस्य प्रसारः, विधवापुनर्विवाहस्य निषेधः च भारतस्य केषाञ्चन समुदायानां सामाजिकजीवनस्य भागः अभवत् भारतीय उपमहाद्वीपे मुस्लिमशासकानाम् आधिपत्यप्रसारणेन भारतीयसमाजस्य पर्दाप्रथा प्रचलिता अभवत्। राजस्थाने राजपूतानां मध्ये जौहर-प्रथा प्रचलिता आसीत्। भारतस्य केषुचित् भागेषु कदाचित् देवदासीनां यौनशोषणं भवन्ति स्म। राजनीतिः, साहित्यः, शिक्षा, धर्मः इत्यादिषु विविधक्षेत्रेषु बहवः विशिष्टाः महिलाः प्राप्यन्ते। सुल्ताना राजिया एकमात्रः महिलासुल्तानः असीत् या देहलीनगरे शासनं कृतवती। गोण्डराज्ञी दुर्गावती पञ्चदशवर्षपर्यन्तं शासनं कृतवती ततः पूर्वं १५६४ तमे वर्षे मुगलसम्राट् अकबरस्य सेनापतिना आसाफखानस्य विरुद्धं युद्धे प्राणान् त्यक्तवती। चाँदबीबी इत्यनेन १५९० तमे वर्षे अकबरस्य शक्तिशालिनः मुगलसैनिकानां विरुद्धं अहमदनगरस्य रक्षणं कृतम्। जहाँगीरस्य पत्नी नूरजाहानः राज्यस्य प्रशासने सक्रियभूमिकां निर्वहति स्म, मुगलसिंहासनस्य अनन्तरं सा वास्तविकशक्तिः इति गण्यते स्म। ताराबाई अन्यः महिला मराठाशासिका आसीत् । दक्षिणभारते बहवः महिलाः, ग्रामाः, नगराणि, विभागाः च शासितवती, नूतनाः सामाजिकाः धार्मिकाः च संस्थाः स्थापिताः।

आङ्ग्लशासनकाले स्त्रीणां आन्दोलनस्य भूमिकाः - आङ्ग्लशासनकाले राजाराममोहनरायः ईश्वरचन्द्रविद्यासागरः ज्योतिरावफुले इत्यादयः अनेकेन समाजसुधारकाः स्त्रीणां विकासाय युद्धं कृतवन्तः। राजाराममोहनरायस्य प्रयत्नेन गवर्नर-जनरल्-लार्ड-विलियम-बैन्टिक इत्यस्य कार्यकाले १८२९ तमे वर्षे सतीदाहप्रथायाः समाप्तः अभवत्। ईश्वरचन्द्रविद्यासागरस्य आन्दोलनस्य फलस्वरूपं १८५६ तमे वर्षे विधवापुनर्विवाहविधिः स्वीकृतम् अभवत्। पण्डिता-रमाबाई, अनेके महिलासुधारकर्तारः अपि महिलामुक्ति-आन्दोलने महत्त्वपूर्णां भूमिकां निर्वहन्ति स्म। पण्डिता-रमाबाई प्रथमा महिला आसीत् या कलकत्ता विश्वविद्यालयेन पण्डिता सरस्वती इति उपाधिं प्राप्तवती। १८८९ तमे वर्षे कांग्रेसस्य अधिवेशनस्य दशमहिलाप्रतिनिधिषु मध्ये सा अन्यतमा आसीत्। १८९० तमे वर्षे रमाबाई इत्यनेन स्थापितस्य मिशनस्य नाम पण्डिता रमाबाई मुक्तिमिशन इति अभवत्। १८८२ तमे वर्षे मेध्वी मृत्योः अनन्तरं रमाबाई पुणे-नगरे आर्य-महिला-समित्याः स्थापनां कृतवती। अस्य सङ्घस्य उद्देश्यं महिलाशिक्षणस्य प्रवर्धनं बालविवाहस्य उत्पीडनात् बालिकासु रक्षणं च आसीत्। १८८६ तमे वर्षे आनन्दबाई जोशी इत्यस्य स्नातकोत्तरकार्यक्रमे प्रथमभारतीयवैद्यरूपेण भागं ग्रहीतुं सा अमेरिकादेशे गता। तत्र द्विवर्षीयवासकाले सा पाठ्यपुस्तकानां अनुवादं कृत्वा अमेरिकादेशे, कनाडादेशे च व्याख्यानं दत्तवती। तत्र सा स्वस्य एकं महत्त्वपूर्णं पुस्तकं **"The High-Caste Hindu Woman"** इति आङ्ग्लभाषायां प्रकाशितवती। रमाबाई इत्यनेन उच्चजातीय हिन्दूमहिलानां कृते एतत् ग्रन्थं समर्पितम्। आङ्ग्ल-भारते हिन्दू-महिलानां जीवनस्य अन्धकार-पक्षं दर्शयित्वा हिन्दूबाल-कन्या-विधवा-अत्याचारस्य प्रतिकारं कर्तुं प्रयत्नम् कृतवती।

रानीलक्ष्मीबाई क्रान्तिकारी नेत्री इति भारतस्य इतिहासे स्मरणीयः अस्ति। सा झाँसी-राज्ञी इति अपि प्रसिद्धा अस्ति। भारतीय-इतिहासस्य कृते तस्याः योगदानम् अतुलनीयम् अस्ति। देशस्य महान् महिला-स्वतन्त्रता-सेनानीषु अन्यतमा। रानी लक्ष्मीबाई इत्यस्मै **"Joan of Arc"** इति उपाधिः दत्ता यतः सा आङ्ग्लानां विरुद्धं वीरतया युद्धं कृतवती। सा आङ्ग्लशासनकाले १८५७ तमे वर्षे सर्वभारतीयविद्रोहस्य प्रतिष्ठितेषु अग्रणीषु च अन्यतमा अस्ति। १८५८ तमे वर्षे जूनमासस्य १७ दिनाङ्के फुलबागक्षेत्रस्य समीपे कोटाह-की-सेराय इत्यत्र राजसैनिकैः सह युद्धकाले रानीलक्ष्मीबाई शहीदः अभवत्। सुभाषचन्द्रबोसस्य नेतृत्वे आजादहिन्दबलेन राज्ञी लक्ष्मीबाई इत्यस्याः स्मृतौ प्रथममहिलादलस्य नामाङ्कनं कृतम्।

मातङ्गिनी हाजरा मेदिनीपुरस्य उदात्तनायिका आसीत्। यद्यपि अष्टादशवर्षे विधवा अभवत् तथापि तस्याः देशस्य प्रति अगाधः प्रेम आसीत्। १९४२ तमे वर्षे आगस्तमासे सा राष्ट्रध्वजं हस्ते गृहीत्वा मेदिनीपुरे विशालं शोभायात्रायाः नेतृत्वं कृतवती। शोभायात्रायाः नेतृत्वं कुर्वन् सा आरक्षकैः गोलिकाप्रहारं कृत्वा अपि राष्ट्रध्वजं भूमौ पतितुं न दत्तवती। अन्ते अयं नायिका आरक्षाणां अन्येन गोलिकाप्ररहारेन बन्देमातरम् इति जपं कृत्वा भारतमातुः बाहुयुग्मे पतितवती।

भारतीयस्वतन्त्रसेनानी कविः सरोजिनी नायडुः १८७९ तमे वर्षे फेब्रुयरीमासस्य १३ दिनांके हैदराबादनगरे जन्मः अभवत्। सा **"The Nightingale of India"** इति नाम्ना प्रसिद्धा अस्ति। १९०५ तमे वर्षे बङ्गालविभाजन-आन्दोलनस्य पश्चात् सा स्वतन्त्र्य-आन्दोलने सम्मिलिता अभवत्। १९२५ तमे वर्षे सा काङ्ग्रेस-अध्यक्षारूपे निर्वाचिता अभवत्। १९३१ तमे वर्षे महात्मागाँधी-पण्डित-मालवीया सह सा गोलमेज-समागमे अपि भागं गृहीतवती। भारतत्याग-आन्दोलने सहभागितायाः कारणात् १९४२ तमे वर्षे अक्टोबरमासस्य २ दिनाङ्के सा कारानिरोधा अभवत्। १९४७ तमे वर्षे स्वातन्त्र्यानन्तरं सरोजिनी नायडुः उत्तरप्रदेशराज्यस्य राज्यपालत्वेन नियुक्ता अभवत्। सरोजिनी नायडुः भारतीयस्वतन्त्रतान्दोलनस्य सक्रियसेनानी आसीत्। सरोजिनी नायडुः २ मार्च १९४९ तमे वर्षे उत्तरप्रदेशस्य इलाहाबादनगरे निधनवती ।

कल्पनादत्ता भारतस्य स्वतन्त्रता-आन्दोलनस्य प्रमुखा व्यक्तिः आसीत्। चट्टग्राम-क्रान्तिस्य प्रमुखेषु क्रान्तिकारी-नेतृषु अन्यतमा आसीत्। वर्तमानकालस्य बाङ्ग्लादेशस्य चट्टग्राम-जेलायाः बोयालखाली उपजिलायाः श्रीपुरग्रामस्य साधारणमध्यमवर्गीयपरिवारे तस्याः जन्म अभवत्। शहीद खुदीरामस्य क्रान्तिकारी कनैलालदत्तस्य च आदर्शैः प्रेरिता सा बेथुनमहाविद्यालये निर्मितस्य छात्रसंघस्य सदस्यतां प्राप्तवती। पूर्णेन्दु-दस्तिदारस्य माध्यमेन सा मास्टार दा सूर्यसेन इत्यस्य परिचयं प्राप्यः मास्टार दा इत्यनेन स्थापितायाः भारतीयगणतन्त्रसेनायाः चट्टग्राम-शाखायां सम्मिलितवती। रवीन्द्रनाथठाकुरः तस्याः क्रान्तिकारी मानसिकतायाः कारणे ताम् ''**अग्निकन्या**'' इति आह्वयति स्म।

आधुनिकभारते महिला आन्दोलनस्य भूमिकाः - स्वातन्त्र्यपूर्वकाले विभिन्नक्षेत्रेषु भारतीयमहिलानां मध्ये यः उत्साहः अवलोकितः, सः स्वातन्त्र्यानन्तरं दशकद्वये किञ्चित् न्यूनः अभवत्। तस्मिन् काले महिलाः पूर्वापेक्षया गृहकार्यं प्रति अधिकं ध्यानं दत्तवन्तः, तेषां राजनैतिकभागीदारी केषुचित् समाजकल्याणकार्येषु एव सीमितः आसीत्। श्रीमती वन्दनाच्याटार्जी तस्याः **"Woman And Politics In India"** इति ग्रन्थे भारतीयराजनीत्यां महिलानां बहिष्कारस्य कारणं एकप्रकारस्य विश्वासस्य कारणं वदितवती। तस्मिन् समये भारतीयमहिलानां तेषां संस्थानां च नूतनभारतीयराज्यव्यवस्थायां महती विश्वासः आसीत्। ते चिन्तयन्ति स्म यत् एतत् नूतनं राज्यं स्वयमेव विद्यमानस्य लैङ्गिकभेदभावना-आधारित-समाजस्य परिवर्तनं करिष्यति, स्त्रियः पूर्णगौरवे स्थापितं च करिष्यति इति। परन्तु एतत् विश्वासं सम्मानः न दत्तम्। स्वाभाविकतया १९७० तमे वर्षात् आरभ्य भारतीयमहिलाः पुनः सक्रियताम् अवाप्तवन्तः, राजनीतिषु स्त्रीणां भागग्रहणस्य वृद्धिः अपि अभवत्।

अस्य युगस्य महिला-आन्दोलनानां मुख्यं उद्देश्यं प्रचलित-लैङ्गिक-भेदभावस्य विरुद्धं महिलानां जागरुकतां वर्धयितुं, मानव-अधिकार-उल्लङ्घनस्य न्यूनीकरणाय च आसीत्। १९७० तमे दशके महिलानां जागरणस्य पृष्ठे अनेके तत्त्वानि कार्यं कृतवन्तः, यथा-

१. जयप्रकाशनारायणस्य लोकतान्त्रिक-आन्दोलनस्य आह्वानः।

२. १९७४ तमस्य रेलवे हड़तालः।

३. आपातकाले महिलानां स्वतन्त्रतायाः हस्तक्षेपः।

४. भारतीयमहिलानां स्थितिसमितेः प्रतिवेदने महिलानां असमानस्य उपेक्षितायाः च स्थितिविषये उत्तेजनापूर्णसूचनाः प्रकाशिताः।

५. मथुरा धर्षणस्य प्रकरणम् इत्यादयः।

एतैः सर्वैः आयोजनैः भारतस्य मध्यमवर्गस्य श्रमिकवर्गस्य च महिलाः अतीव सक्रियताम् अवाप्तवन्तः। महाराष्ट्रे पतिनां अतिशयेन मद्यपानस्य, भार्याप्रहारस्य च विरुद्धस्य आन्दोलनस्य भागरूपेण लघु-लघु महिलानां शिविराणां निर्माणं जातम्। भारते महिला-आन्दोलने महिलानां सापेक्षिक-स्वतन्त्रता, स्वतन्त्र-भूमिका च १९८० तमे दशके आरब्धा। अस्मिन् चरणे भारतीयमहिलानां राजनैतिककार्यकर्तृत्वस्य संगठनात्मकक्रियाकलापस्य च अत्यधिकं वृद्धिः अभवत्। देशस्य विभिन्नेषु भागेषु अनेकाः महिलासङ्घटनाः उद्भूताः, येषां कार्यं महिलानां उत्पीड़नविरुद्धं आन्दोलनं निरन्तरं कर्तुं वर्तते, कार्येषु, वेतने, सामाजिकस्थितौ च समानतायाः आग्रहं कुर्वन्ति। १९९० तमे दशके अनेकविदेशीयसङ्गठनानां अनुदानेन केचन नवीनाः महिलाकेन्द्रिताः पर्यायवाचीसंस्थाः निर्मिताः। १९८४ तमे वर्षे दिल्लीदङ्गानां, १९९२ तमे वर्षे बाबरीमस्जिदविध्वंसस्य, २००२ तमे वर्षे गुजरातदङ्गानां च अनन्तरं उपशमवितरणं, दलितप्रदर्शनं, मीडियाप्रचारः, जागरूकता च इति विषयेषु महिलासङ्घटनानाम् अग्रणी भूमिका आसीत्।

परिसमापणम् - उपर्युक्तविमर्शात् वयं जानीमः यत् वैदिककाले स्त्रियाः पर्याप्तं स्थानं दत्तम् आसीत्। परन्तु परवर्ती वैदिककालात् आरभ्य तेषां क्षयः आरब्धः। मध्ययुगात् आधुनिकयुगपर्यन्तं बहवः महिलाकार्यकर्तृणां योगदानं विशेषतया महत्त्वपूर्णम् सन्ति। भारते महिलाः राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक-समानतायाः, आत्मरक्षायाः च कृते आन्दोलनं कुर्वन्ति स्म। १९८०, १९९० तमे दशके महिलानां राजनैतिकभागीदारी, कार्यकर्तृत्वं च अत्यन्तं वर्धितम्, नारीवादी आन्दोलनस्य बलं च निरन्तरं प्राप्तम्। नारी-आन्दोलनस्य प्रभावात् विगतशतवर्षेषु विशेषतया च गतत्रिदशकेषु भारतीयमहिलानां प्रचण्डा प्रगतिः अभवत् इति न संशयः। अतः भारतीयसमाजस्य गतिशीलस्य नारी-आन्दोलनानां आवश्यकता अद्यापि अतीव अधिकाः सन्ति।

सहायक-ग्रन्थसूची

- Yudhisthira Gope, (2003), History of Vedic Literature, 1st Edition, Publisher : Abhay Barman, Sanskrit Book Dept., Kolkata.
- History of Vedic Literature, Author : Dr. Yogiraj Basu, 1st Edition, Publisher : Pharma K.L. Mukhopadhyay, 257-B,BipinBihari Ganguly street, Kolkata.
- Shri Upendra Chandra Bhattacharya, (1361),Woman of India, Modern Book Agency Private Limited, Kolkata.
- Maitra, Shefali; (2007), Ethics and Feminism, New age Publishers Private Limited, Kolkata, Page - 23.
- Shri Rajnikant Gupta, (1294), History of India, 4th Edition, Publisher : Shri Gurudas Chattopadhyay, Calcutta.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

भारतीय ज्ञानपरम्परा में आर्थिक चिन्तन के सूत्र : एक विश्लेषण

डॉ. अनूप कुमार अत्रेय*, डॉ. आशुतोष पारीक**

शोधसारांश – प्रत्येक युग में अर्थ का विचार और उसके उपयोग के सम्बन्ध में विधि और निषेध का चिन्तन किया गया है। वर्तमान युग को आर्थिक युग की संज्ञा भी दी गई है किन्तु वास्तविकता यह है कि हर युग आर्थिक युग ही होता है, क्योंकि अर्थ का व्यापक दृष्टिकोण हर वस्तु में अर्थचिन्तन करता है। भारतीय प्राचीन ज्ञानपरम्परा में अर्थ की इसी व्यापक दृष्टि को आधार बनाया गया और यही कारण है कि अर्थ का चिन्तन करते समय समाज, समत्व और समरसता का चिन्तन अति सहजता से सम्भव हो सका। आधुनिक युग में अर्थ का विचार कुछ संकुचित सा हो गया है। इसीलिए यह आत्मसंतोष और तृप्ति का साधन नहीं बन पा रहा है। अतः यदि धर्म, अर्थ, काम के मार्ग से होते हुए मोक्ष के द्वारा परमसुख की अभिलाषा है तो आर्षविचारों के परिप्रेक्ष्य में अर्थ को जानना वर्तमान युग की महती आवश्यकता है।

संकेताक्षर – समदृष्टि, संयमित उपयोग, सह उपयोग, वर्णव्यवस्था, समत्व, श्रमविभाजन, विशेषीकरण, समानावसर, स्वकर्मनिरत।

ओ३म् सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।[१]

कल्याण की उदात्त भावना का कितना सुन्दर निदर्शन है! समस्त मानव समुदाय एवं समस्त प्राणी वर्ग के कर्तव्याधिकारों को पूर्ण सामंजस्य एवं सौहार्द के साथ सुरक्षित रखने के लिए तैत्तिरीयारण्यक का यह मन्त्र विश्वसंस्कृति का आधार है और इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के शान्तिपाठ के रूप मे मान्य है। यह मन्त्र मानव में सह अस्तित्व, विद्वेषरहित चिन्तन और समत्व का आधान कराता है। मनुष्य को स्वविवेक से संयुक्त करता है एवं सहयोग की भावना से समुन्नत बनाता है। व्यक्ति में समत्व, समरसता और समदृष्टि का समभाव जीवन और उसमें निहित प्रतिक्षण को सरस, सहज और सफल बनाता है। इसीलिए ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त में कहा गया है–

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति।।[२]

भारतीय विचारधारा का प्रस्थापक एवं प्रेरक यह ध्येयवाक्य जहाँ एक ओर समान मानसिकता, समान विचारों और समान साहस से अग्रसर होने की प्रेरणा देता है, वहीं दूसरी ओर समाज में मानव को

* सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर।
** सह आचार्य, संस्कृत विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान।

सहजता और समानता के साथ उन्नत बनाने का संकल्प भी रखता है। मानव का संसाधन के रूप में उपयोग आधुनिक काल की नहीं अपितु प्राचीन काल से चली आ रही परम्परा का प्रतिबिम्ब है। मानवीय जीवन को श्रेष्ठ और अनुकरणीय बनाने के लिए वैदिक ऋषियों ने बहुधा विचार किए और इन्हीं विचारों की परिणति ने वैदिक संस्कृति को जन्म दिया और इसी वैदिक संस्कृति का समाजिक आधार है– प्राचीन भारतीय ज्ञानपरम्परा में आर्थिक चिन्तन।

शरीर, मन और आत्मा के समुच्चय का नाम ही मनुष्य है। अतः सभी क्रियाओं का आश्रय शरीर और कर्ता आत्मा को माना गया है।[३] मनुष्य के द्वारा किए गए श्रम को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। मनुष्य की आवश्यकताओं के कारण ही आर्थिक क्रियाओं का जन्म होता है। पाश्चात्य आर्थिक दर्शन मनुष्य की आवश्यकताओं को असीमित तथा इनकी पूर्ति के लिए संसाधनों को सीमित मानता है। साधनों के सीमित होने और उनके वैकल्पिक प्रयोगों के कारण मनुष्य कभी भी स्वयं को तृप्त नहीं कर पाता है। परिणामतः वह जीवन में सदैव असंतोष एवं अप्रसन्नता की स्थिति का सामना करता रहता है। मनुष्य की असीमित अनन्त इच्छाओं और लालसाओं ने अधिक उत्पादन के लिए असन्तुलित रूप से संसाधनों के अन्धाधुन शोषण किया जिसका परिणाम आज प्राकृतिक असन्तुलन और पर्यावरण प्रदूषण के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा, ग्लोबल वार्मिंग, चक्रवात, भूकम्प आदि के रूप में प्राकृतिक असन्तुलन और आवश्यकताओं का चक्रव्यूह मनुष्य द्वारा प्रकृति के अनियोजित एवं अमर्यादित विदोहन की कहानी बता रहे हैं।

यजुर्वेद में वैदिक संस्कृति को विश्वव्यापी बताते हुए उसे प्रथम संस्कृति कहा गया है और इसके पोषण एवं संवर्धन के लिए पश्यत्नशील रहने का संदेश दिया– "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।"[४] और यही कारण है कि वेद समस्त दुर्गुणों को दूर करने और भद्र के आधान का उपदेश करता है–

ऊँ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव।[५]

ऐसे वैदिक ज्ञान–परिज्ञान से परिपूर्ण वैदिक समाज में समभाव, समरसता और समदृष्टि की प्रतिष्ठापना सहजता और स्वाभाविकता से हो जाती है। नियमों का पालन और उनकी अवमानना होने पर दण्ड की व्यवस्था, सार्वजनीन एवं सर्वकल्याणकारक शिक्षा की समुपलब्धता, सभी को समान अवसर और अधिकार, कर्तव्याकर्तव्य एवं अधिकारानधिकार की समुचित व्यवस्था ही समाज में समत्व के भाव का सर्जन करती है। प्राचीन भारतीय चिन्तन का दृष्टिकोण आवश्यकताओं और इच्छाओं को सन्तुलित एवं संयमित करने का है। यह संयमित दृष्टि ही लालसाओं पर नियन्त्रण, संकटों से मुक्ति एवं सन्तुलित जीवन की दिशा में अग्रसर कराने का एकमात्र मार्ग है।

वर्तमान मनुष्य सिर्फ अपने शारीरिक सुख को अधिकाधिक प्राप्त करने के लिए भौतिक वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धि को सुनिश्चित करना चाहता है। हम विकास के जिस पाश्चात्य मॉडल का अन्धानुकरण कर रहे हैं उसमें अन्तिम रूप से तृप्ति और सुख का प्राप्त हो पाना असम्भव है। अधिक से अधिक वस्तुओं व सेवाओं की उपलब्धि का लक्ष्य लेकर चलने वाला मनुष्य अधिक से अधिक आय अर्जित करने के मार्ग तलाशता है, परन्तु इसका पता उसे बहुत बाद में चलता है कि जिस मार्ग पर चल पड़ा है उसका कोई अन्तिम छोर नहीं है। वह जिन आवश्यकताओं की पूर्ति को सुख का आधार समझ रहा था,

वह समग्र सुख नहीं है।

प्राचीन भारतीय ज्ञानपरम्परा में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं को पूरा करना ही 'समग्र सुख' है। इन्हीं चारों पक्षों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए धर्म, अर्थ, काम का उल्लेख किया गया है। साथ ही कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में चार विद्याओं का उल्लेख किया है– त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति।[६] त्रयी अर्थात् वेदशास्त्रीय ज्ञान। वेदज्ञान से युक्त अन्वेक्षण (सम्यक् दृष्टि एवं अभ्यास), वार्ता (व्यवसायादि) और दण्ड (न्याय व्यवस्था) ही आर्थिक रूप से उन्नत एवं सतत संधारणीय समाज का निर्माण करने में सक्षम है। अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि अर्थ के बिना धर्म और काम सिद्ध नहीं होते। अतः अर्थ ही समस्त धर्म और काम के पालन में सहायक और अग्रणी है–

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणां व्यतिक्रमः।
न ह्यव्यतेर्ध्येन वर्तेत धर्म कामाविति श्रुतिः।।[७]

आर्थिक रूप से सशक्त होना जितना आवश्यक है, उतना ही अर्थ संसाधनों की पवित्रता भी अनिवार्य है। अतः मनुस्मृति में कहा गया है कि सब पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता अतिश्रेष्ठ है– '**सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।।**'[८]

आर्षजीवन शैली में अर्थ को महत्त्व प्रदान किया गया है किन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि आर्य संस्कृति और सभ्यता में अर्थ, धर्म से नियन्त्रित होता है। यहाँ अर्थ की महत्ता तभी तक है जब तक कि वह अधर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। डॉ. रामकृष्ण आर्य इसी बात को पुष्ट करते हुए लिखते हैं– ''अर्थ और काम उच्छृंखल न बन जाएँ; इसलिए अर्थ और काम के आगे–पीछे धर्म और मोक्ष को स्थित किया गया है।''[९]

कर्म प्रधान संस्कृति – भारतीय ज्ञानपरम्परा में कर्म को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। कर्म और कर्मजनित स्व, समाज और विश्व की समुन्नति का आधार है पुरुषार्थ। वेदमन्त्रों में पुरुषार्थ और ज्ञानप्राप्ति के लिए सदा प्रेषित करने के लिए परमात्मा से अनेकधा प्रार्थना की गई है, जिनका लक्ष्य कर्म के प्रति निष्ठा और समत्व दृष्टि का संवर्धन करना था–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।[१०]

वैश्विक समरसता का वैदिक मूलमन्त्र है कर्म और पुरुषार्थ। इसीलिए कहा गया है– ''**क्रत्वे दक्षाय नो हिनु।**''[११], ''**तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति।**''[१२], ''**यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्।**''[१३], ''**यन्ति प्रमादमतन्द्राः।**''[१४], ''**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।**''[१५], ''**न देवासः कवत्नवे।**''[१६], ''**अतद्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः।**''[१७] कर्म में भी उसी कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, जिसमें सर्वकल्याण की भावना निहित हो। अतः कहा गया है– ''**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।**''[१८]

अर्थशास्त्र की परम्परा – अर्थमूलक सिद्धान्त अनेकानेक शास्त्रों एवं साहित्यिक कृतियों में प्राप्त होते हैं। वेदादि और उन पर आधारित विविध शास्त्रों में अर्थशास्त्र से सम्बद्ध कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र (७०० ई. पू.) और बोधायन धर्मसूत्र (५०० ई. पू.) के बाद तो अर्थशास्त्र विषयक

चर्चा विविध शास्त्रों में सविस्तार से प्राप्त होने लगी। कौटिल्य विरचित अर्थशास्त्र में भी अनेक पूर्वाचार्यों का वर्णन किया गया है। रामायण में सुधन्वा का वर्णन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री के रूप में मिलता है।[१९] बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भी अर्थचिन्तन को स्थान प्रदान किया गया है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि आरम्भ में दण्डनीति और शासन सम्बन्धी कार्यों का वर्णन भी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत होता था, किन्तु यहाँ (अर्थशास्त्र में) सम्पत्ति और शासनसत्ता दोनों को मिलाकर अर्थ नाम से सम्बोधित किया गया है।[२०] धीरे-धीरे धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थों में भी अर्थसम्बन्धी चर्चा की जाने लगी और उसके पश्चात् स्मृति साहित्य और अन्य पुराणादि में होते हुए नवीं शताब्दी में बृहस्पतिसूत्र और सोमदेव विरचित नीतिकाव्यामृत की रचना हुई। इनके बाद चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी में चन्द्रशेखर, मित्रमिश्र और नीलकण्ठादि ने अर्थचिन्तन को सुविकसित किया।

भारतीय ज्ञान परम्परा में अर्थ – भारतीय ज्ञान परम्परा में अर्थ को धर्म से जोड़कर देखा गया। धर्म अर्थात् जो धारण करने योग्य है। अर्थ को मनुष्य का मूल तो धर्म को मनुष्य की लौकिक और पारलौकिक उन्नति का मूल कहा गया है।[२१] इसीलिए धर्मशास्त्र के एक अंग के रूप में ही अर्थशास्त्र का वर्णन किया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राच्यविद्या का अर्थशास्त्र धर्म, अध्यात्म एवं भौतिकता का समन्वयात्मक अध्ययन करता है, जबकि पाश्चात्य अर्थशास्त्र केवल भौतिक आवश्यकताओं का ही अध्ययन करता है।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, किन्तु पाश्चात्य अर्थशास्त्र का लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओं से सन्तुष्टि होना मात्र है। मानव की आध्यात्मिक आवश्यकताओं के बारे में यह मौन है।

प्राच्यविद्या के अर्थशास्त्र में वर्ग-संघर्ष नहीं है, अपितु वर्ग-सामंजस्य है। वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था में निहित संयमित उपयोग एवं सह अस्तित्व के सिद्धान्त ने समाज को एक सूत्र में पिरोने का महनीय कार्य किया। अवसरों की समान उपलब्धता ने संघर्ष के स्थान पर कर्तव्य का पथ प्रदर्शित किया और यही कारण है कि भारतीय प्राचीन ज्ञानपरम्परा में अर्थचिन्तन धर्मानुसार काम प्राप्ति के द्वारा मोक्ष मार्ग का साधन बन सका। अर्थचिन्तन की इस आर्षपरम्परा के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, जिनका परिज्ञान भारतीय अर्थविचार को समझने में उपादेय है-

वर्णाश्रम व्यवस्था – वर्णाश्रम व्यवस्था को सुनियोजित एवं संयमित आर्थिक चिन्तन का मूल कहा जा सकता है। डॉ. रामकृष्ण आर्य अपनी पुस्तक में इस सन्दर्भ में लिखते हैं- "वर्णाश्रम पर आधारित वैदिक व्यवस्था में धन का मर्यादित महत्त्व है। धन कमाने की समय सीमा सिर्फ २५ से ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थ वर्णी के लिए नियत है। गृहस्थ ही अर्थोपार्जन की चिन्ता करता है, अन्य आश्रमी नहीं। विभिन्न आश्रमियों के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित हैं। इसी प्रकार विभिन्न वर्ण के लोग अपने-अपने निर्धारित साधनों से जीविका करते हैं। सबके लिए धर्म एवं न्याय से जीविका करना उचित माना गया है। इसका परिणाम यह होता है कि धन की लिप्सा नहीं होती। संचय का सवाल ही पैदा नहीं होता क्योंकि सौ हाथों से कमाने वाला हजार हाथों से बाँटने को उद्यत रहता है।"[२२]

संयमित उपयोग – वर्तमान सन्दर्भ में यदि देखा जाए तो मनुष्य वस्तुओं व सेवाओं का उपयोग आवश्यतानुसार न करते हुए अपनी इच्छानुसार करता है। परिणामतः संसाधनों का सदुपयोग नहीं हो पाता है। अनावश्यक उपयोग, अति उपयोग, अमर्यादित उपयोग तथा एकाकी उपयोग के कारण प्राकृतिक,

आर्थिक व मानवीय संसाधनों का नीतिपूर्वक व कुशल प्रयोग न होने के कारण विश्व के समक्ष अनेक संकट उपस्थित हो चुके हैं। व्यष्टि से समष्टि तक एक असन्तुलन व्याप्त हो गया है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय चिन्तन की संयमित उपयोग की अवधारणा वर्तमान परिदृश्य में प्रासंगिक है। ईशावास्योपनिषद् भी समस्त जगत् में विद्यमान त वों को ईश्वरीय गुणों से युक्त मानता है तथा इनका त्यागपूर्वक उपभोग करने का संदेश देता है–

ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।[२३]

संयमित उपयोग के लिए निम्न बिन्दुओं का निर्वाह किया जाना नितान्त आवश्यक है–

- व्यक्ति द्वारा स्वयं अर्जित सम्पत्ति/अर्थ का अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए संयमित उपयोग किया जाना चाहिए।
- उत्पादन व उपभोग आवश्यतानुसार होना चाहिए, न कि व्यक्ति की इच्छानुसार।
- मनुष्य का अधिकार केवल उसके धन/सम्पत्ति पर है, जिससे उसका पेट भर जाए।
- गलत तरीके से कमाया गया धन और आवश्यकता से अधिक धनसंग्रह दण्डनीय माना गया है।
- उपभोग या उपयोग से कभी इच्छा शान्त नहीं होती बल्कि आग में घी डालने पर ज्वाला के समान बढ़ती है।
- संयमित उपयोग स्वास्थ्य के लिए सदैव हितकारी होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता फल और कर्म में से कर्म पर ही व्यक्ति का अधिकार सुनिश्चित करते हुए संयमित होने का संदेश देती है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[२४]

सह-उपयोग – एकाकी जीवन और एकाकी भोग राक्षस प्रवृत्ति का द्योतक है। स्वयं के साथ अन्यों का भी संरक्षण एवं संवर्धन मानवीय प्रकृति का संदेश देता है और जो स्वयं को छोड़ परोपकार में अपने जीवन को आहूत कर देता है वह ऋषि और देव के समतुल्य हो जाता है। इसी सन्दर्भ में गीता में श्रीकृष्ण के मुख से वेदव्यास कहते हैं–

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।[२५]

मिलकर कार्य करना आपस में सहयोग की भावना का संचार करता है और सह अस्तित्व के साथ समत्व का पोषक होता है। अतः सह–उपयोग के विचार को समाज में संचरित करने हेतु निम्न सिद्धान्तों की पालना सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है–

- केवल स्वयं उपयोग न करें अपितु समाज के अन्य लोगों में वस्तुओं को बाँटकर उपयोग करना चाहिए। अतः ऋग्वेद में कहा गया है – '**केवलाघो भवति केवलादी।**'[२६] अर्थात् जो अकेला ही खाता है वह पाप को ही खाने वाला होता है, अतः जो कुछ भी प्राप्त हो, वह

मिल-बाँटकर सेवन करना ही उचित है।

- पृथ्वी पर जो कुछ है उस पर मेरे अकेले का अधिकार नहीं है। जैसा मुझे अधिकार है, वैसा ही सभी का अधिकार है।
- असुर प्रवृत्ति के व्यक्ति स्वयं उपयोग करते हैं और देव प्रवृत्ति के व्यक्ति बाँट कर उपयोग करते हैं।
- परिवार के अतिरिक्त असहायों एवं दरिद्रजन का भी भरण-पोषण करना चाहिए।

समान-उपयोग - वैयक्तिक प्रगति के स्थान पर सामुदायिक प्रगति को भारतीय प्राचीन ज्ञानपरम्परा में अर्थनीति का आधार बनाया गया। जब हम सभी की प्रगति के वाहक होते हैं तो समत्व एवं समानोपयोग की दृष्टि सहजता के साथ स्थापित हो जाती है। महोपनिषद् में भी कहा गया है-

अयं बन्धुरयं नेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्।।[२७]

अतः समान उपयोग की महत्ता को जीवन में धारण करने हेतु निम्न बिन्दु ध्यातव्य हैं-

- प्रत्येक व्यक्ति के पास सन्तुलित भोजन, रहने के लिए आवास, पर्याप्त वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा आदि अनिवार्य रूप से उपलब्ध हों।
- 'सबका कल्याण हो' यही सार्वभौम मानव धर्म है।[२८]
- उपयोग में नैतिकता हो।
- धर्माधारित मार्ग से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करें।

समत्व भाव से समाज समुन्नत होता है, अतः ऋग्वेद में कहा गया है-

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि।।[२९]

स्वयं के सुख को बढ़ाने के लिए अधिक से अधिक वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग, वस्तुओं व सेवाओं के अधिकाधिक क्रय के लिए नैतिक-अनैतिक कार्यों का विश्लेषण किए बिना अधिकाधिक धनार्जन ने वर्तमान मनुष्य को पूर्णतः स्वार्थी, अवसरवादी, लोभी व लालची बना दिया है। मनुष्य जीवनपर्यन्त शारीरिक सुखों की प्राप्ति व संवर्धन के लिए संघर्ष कर रहा है। आधुनिक चिन्तन एक ओर भौतिक सुख तक सीमित हो चुका है, वहीं दूसरी ओर प्राचीन भारतीय चिन्तन मनुष्य के शारीरिक सुख के साथ-साथ उसके मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक सुख को जीवन की समृद्धि का केन्द्र बताता है।

भारतीय संस्कृति में तत्त्वज्ञान, सांस्कृतिक एवं आर्थिक समृद्धि एवं पराक्रम ने समग्र विश्व को आकर्षित किया है। शॉपेनहावर नामक जर्मन दार्शनिक ने कहा है कि अगर किसी को ब्रह्माण्ड का सबसे विकसित मस्तिष्क दिखना है तो उसे निश्चित रूप से भारतीय आकाश के नीचे ही होना होगा। गीता की भी सर्वप्रमुख शिक्षा यही है कि सभी मनुष्य अपने-अपने धर्म और कर्म में निरत रहें, क्योंकि अपने कर्मानुसार आचरण करना ही मानवीय विकास का सच्चा आधार है-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।

यतः पकृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।[३०]

निष्कर्ष – वैदिक समाज में सांमनस्य, सहृदयता और एकत्व के साथ तादात्म्य को वैश्विक कल्याण के साधन के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है और अर्थ को उसका आधार बताया गया है। साधन सम्पन्न होने में और उसके समुचित उपयोग करने में विशेष अन्तर है। समुचित उपयोग विवेक एवं अवबोध के उच्च स्तर का प्रतीक होता है और इसी विवेकपूर्ण सामर्थ्य का संधारण समत्व, समरसता एवं समदृष्टि का सूत्रधार कहा गया है। इसी सांमनस्य के मूलाधार के रूप में भूमि के छः धारक तत्त्वों के पालन, संरक्षण और सदुपयोग की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए बृहत् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ को सतत् विकास का मानक कहा गया है–

''सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।''[३१]

सन्दर्भ सूची

१. तैत्तिरीयारण्यक, ९.१
२. ऋग्वेद, १०.१९१.४
३. 'चैष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' न्याय दर्शन – महर्षि गौतम, ११.१
४. यजुर्वेद, ७.१४
५. यजुर्वेद, ३०.३
६. ''आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।'' अर्थशास्त्र – कौटिल्य, १.२
७. महाभारत – महर्षि वेदव्यास, शान्ति पर्व, १६७.१२
८. मनुस्मृति – महर्षि मनु, ५.१०६
९. स्वामी दयानन्द का आर्थिक चिन्तन – डॉ. रामकृष्ण आर्य, प्रथम संस्करण १९९१ ई., आर्य परिवार प्रकाशन समिति, कोटा, पृ. १३
१०. यजुर्वेद, ४०.२
११. ऋग्वेद, ९.३६.३
१२. वही, ७.३२.९
१३. यजुर्वेद, ३.३६.१
१४. ऋग्वेद, ७.२.१८
१५. वही, ४.३३.११
१६. वही, ७.३२.९
१७. वही, ४.४.१२
१८. शतपथ ब्राह्मण १.७.३.५
१९. रामायण – महर्षि वाल्मीकि अयोध्याकाण्ड, १००.१४
२०. अर्थशास्त्र – कौटिल्य, १५.१
२१. 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः।' वैशेषिकदर्शन – महर्षि कणाद, १.२

२२. स्वामी दयानन्द का आर्थिक चिन्तन – डॉ. रामकृष्ण आर्य, प्रथम संस्करण १९९१ ई., आर्य परिवार प्रकाशन समिति, कोटा, भूमिका पृ. २३
२३. ईशावास्योपनिषद्–१
२४. श्रीमद्भगवद्गीता – महर्षि वेदव्यास, २.४७
२५. श्रीमद्भगवद्गीता : महर्षि वेदव्यास, ३.१३
२६. ऋग्वेद, १०.११७.६
२७. महोपनिषद्, ६.७२
२८. 'सर्वेषां मंगलं भूयात्, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।। गरूड़पुराण २.३५.५१
२९. ऋग्वेद, १०.१९१.३
३०. श्रीमद्भगवद्गीता – वेदव्यास, १८/४५–४६
३१. अथर्ववेद, १२.१.१

सहायक ग्रन्थ सूची–

१. ऋग्वेद भाष्य – स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
२. यजुर्वेद भाषा भाष्य – स्वामी दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, दिल्ली।
३. सामवेद भाष्य – ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
४. अथर्ववेद भाष्य – प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका– स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।
६. सत्यार्थ प्रकाश – स्वामी दयानन्द सरस्वती, परोपकारिणी सभा, अजमेर।
७. वेदों में भारतीय संस्कृति – पं० आद्यादत्त ठाकुर, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, उ.प्र.
८. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति – गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी।
९. वर्णव्यवस्था – दीपक चौधरी, सनातन धर्म समारोह स्मारिका, ब्यावर।
१०. मनुस्मृति – महर्षि मनु, सम्पादक डॉ. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।
११. भारतीय समाज – डी. डी. शर्मा, साहित्य भवन, आगरा।
१२. नवजागरण के पुरोधा : स्वामी दयानन्द सरस्वती – डॉ. भवानीलाल भारतीय, वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभा, अजमेर
१३. भारतीय संस्कृति का इतिहास – पं. भगवद्दत, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली।
१४. स्वामी दयानन्द का आर्थिक चिन्तन – डॉ. रामकृष्ण आर्य, १९९१ ई., आर्य परिवार प्रकाशन समिति, कोटा।
१५. श्रीमद्भगदवद्गीता – महर्षि वेदव्यास, गीताप्रेस गोरखपुर।

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

ऋग्वैदिक सामाजिक व्यवस्था में पितृसत्तात्मक स्वरूप : एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. बीना कौशिक*

शोध सारांश– आध्यात्मिक संस्कृति से अभिप्रेरित प्राचीन भारतीय ऋग्वैदिक सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था में पवित्र ग्रन्थ वेदों की अहम् भूमिका रही है। वेदों के आधार पर इसे ऋग्वैदिक सभ्यता–संस्कृति से सम्बोधित किया गया। पुरुष सूक्त में समाज की मौलिक इकाई पितृसत्तात्मक परिवार के दायरे में थी जिसे कुल कहा जाता था। व्यक्ति की पहचान उसके कुल से जुड़ी होती थी जिसका वह सदस्य होता था। परिवार के सबसे बड़े पुरुष सदस्य को घर का मुखिया या गृहपति माना जाता था उसका निर्णय ही अन्तिम और सर्वमान्य होता था। परिवार का संगठनात्मक स्वरूप मूलतः पितृसत्तात्मक था, जहाँ पिता या दादा के पास ही सर्वोच्च अधिकार सन्निहित होते थे। ऋग्वैदिक पितृसत्तात्मक समाज की मूल इकाई परिवार या ग्राहम थी जिसे गिरिह या कुला के नाम से भी जाना जाता था। पुत्र पिता की उपाधि थी जिसकी उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'पा' से होना ज्ञातव्य है, जिसका अर्थ है रक्षा करना। पितृ ही परिवार के कल्याण, जीवन और संपत्ति की देखभाल के लिए जिम्मेदार होता था। ऋग्वैदिक काल की सामाजिक संरचना मुख्य रूप से सामाजिक स्तरीकरण, स्त्रियों की उच्च स्थिति सामाजिक–सांस्कृतिक गतिशीलता से संबंधित रही। सृष्टि का पालन करने वाले देवताओं को भी प्रायः पिता की उपमा दी गई है कि – 'हे अग्नि! हम तुम्हारे पास उसी तरह सुगमतापूर्वक पहुँच सके जैसे पिता पुत्र के पास पहुँचता है।' (ऋग्वेद, ८.१.६)। इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ पिता बताया गया है। (ऋग्वेद, १०.४८.१)। वैदिक साहित्य में कहा गया है कि 'हे ! इन्द्र, मनुष्य तेरा पिता की भाँति आह्वान करते हैं। परिवार में पिता का स्थान इतना ऊँचा और आदर्श था जितना कि देवताओं को भी पिता से उपमा देना उचित समझा गया।' अतः ऋग्वैदिक सामाजिक परिवार में पितृप्रधान समाज की ही अवधारणा अन्तर्निहित रही है।

सांकेतिक शब्द : ऋग्वैदिक, सामाजिक और सांस्कृतिक, पितृसत्तात्मक, परिवार, इन्द्र आदि।

ऋग्वैदिक समाज में परिवार के विकास के उद्देश्य और लक्ष्य समान हैं, किन्तु उनका संगठन और प्रकार के अन्तर्गत समाज में परिवार के विकास व समुचित व्यवस्था का आधार पुरुषार्थ आधारित होने के कारण परिवार मानव के सभ्य और सुसंस्कृत होने का स्वाभाविक तारतम्य है, जिसके माध्यम से मानव जीवन का उन्नयन होता है। प्रारंभिक ऋग्वैदिक या वैदिक काल उत्तर भारत के इतिहास में नगरीय सिंधु घाटी की सभ्यता के अंत में १५०० ईसा. पू.–१००० ईसा. पू. के मध्य काल का रहा। ऋग्वैदिक परिवार एक प्राथमिक समूह के साथ–साथ समाज की एक मौलिक ईकाई भी रही। जिसमें कुछ लोग सदस्य के रूप में आबद्ध होते हैं। जिनका एक दूसरे से रक्त सम्बन्ध होता है। इन सब सदस्यों का आपस में अगाध

* सह–आचार्य, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय अजमेर, राजस्थान

स्नेह एवं प्रेम होता है। जो उनकी आबद्धता का सेतु बनाता है परिवार का यह विकास समुदाय और समाज को विकसित और संवर्द्धित करता है तथा उसके सांस्कृतिक जीवन को भी पुष्पित–पल्लवित करता है। इससे सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र प्रगतिशील होता है। वस्तुतः परिवार और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है परिवार से ही समाज का निर्माण होता है। मनुष्य का इतिहास जितना प्राचीन है, उतना ही परिवार का इतिहास प्राचीन है, उतना ही समाज का। ऐसी स्थिति में मनुष्य का इतिहास तथा परिवार का इतिहास व परिवार की सार्वभौमिकता इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि हममें से ऐसा कोई भी व्यक्ति नही है जो परिवार के इन दोनों रूपों में किसी का भी न हो।[१] परिवार का निर्माण करते समय मनुष्य की दृष्टि समाज को विकसित करने व उसके उत्कर्ष में लगी रहती है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार के माध्यम से पूर्ण करता है, और समाज की निरन्तरा को बनाये रखता है।[१] सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत पुनरुत्पादन की क्रिया की गतिशीलता को बनाये रखने के लिए पुरुष की प्रधानता में पितृसत्तात्मक परिवार की व्यापकता को विस्तार मिलने लगा जिसके कारण संयुक्त परिवार को एक सूत्र में बंधे रहने में बड़ी सहायता मिलती रही। प्रारम्भ से ही बच्चे पिता का आदर तथा उनकी आज्ञा को ईश्वर की आज्ञा समझते रहे। वैदिक संस्कृति भी संयुक्त परिवार का पोषण करती रही है। वैदिक काल में एक ऐसे परिवार की कामना की गयी है।[२]

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न उर्भाषिणी,
सन्मित्रं सुधनं सुयोषिति रतिश्घाज्ञापरा सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपनं गृहे,
साधोः संग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः।।

"परिवार सृष्टि नियामक की ओर से स्थापित एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना आत्म विकास सहज में ही कर सकता है।" मानवजीवन की सर्वाङ्गीण सुव्यवस्था के लिए पारिवारिक जीवन प्रथम सोपान है, जिसमें माता–पिता इसके आधार स्तम्भ हैं, जिनके बीजारोपण से परिवार जैसा वृक्ष पुष्पित एवं पल्लवित होता है। वैदिक परिवार में पितृ–परम्परा से सम्बद्ध व्यक्ति ही रहते थे। एक परिवार में रहने वालों का मूल–वरिष्ठ एक पुरुष प्रधान व्यक्ति ही होता था। परिवार एक पवित्र तथा उपयोगी संस्था है। इसमें मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति का आधार सहयोग, सहायता और पारस्परिकता का भाव रहता है।

वैदिक समाज के परिवार को दो मुख्य भागों में वर्गीकृत किया गया है[३] –

१. पितृ–सत्तात्मक– पितृ प्रधान या पितृवंशी परिवार।

२. मातृ–सत्तात्मक– मातृ प्रधान या मातृवंशी परिवार।

मातृप्रधान परिवार का वैदिक साहित्य में स्पष्ट वर्णन नही है, परन्तु सिंधु सभ्यता में होना प्रतीत होता है।

पितृ प्रधान परिवार वैदिक समाज में प्रचलित रहा। पितृ प्रधान परिवार में स्वाभाविक रूप से वंशज परदादा, दादा या पिता के द्वारा ही अनुशासित होते थे। पितृ परम्परा से सम्बद्ध पिता–पुत्र, पोत्रादि, पितृबन्धु आदि पिता के शासन और संरक्षण में रहते थे। इसमें स्वाभाविक या कृत्रिम रूप से बनाये हुये वंश के ज्येष्ठ

पुरुष परदादा, दादा या पिता के अनुशासन में रहते हैं। सामाजिक कानून चाहे कोई व्यवस्था बनाये, किन्तु इस परिवार में अधिक आयु का पुरुष मुखिया या कुलपा अर्थात् कुल की रक्षा करने वाला घर के स्वामी के रूप में शासन करता है।

अतः वैदिक परिवार के पितृ प्रधान तथा पितृ वंशीय होने के प्रमाण है। कुटुम्ब का संचालक, कार्यों का संयोजक और धन सम्पत्ति का व्यवस्थापक परिवार का ही सबसे वरिष्ठ सदस्य होता था, जो कर्त्ता कहा जाता था।[४] प्रायः पिता ही इस पद को सुशोभित करते हुये उत्तरदायित्व ग्रहण करता था। उसका परिवार पर पूर्ण अधिकार और स्वामित्त्व होता था। परिवार के सभी सदस्य उसे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वह गृहपति या गृहस्वामी भी कहा जाता था।[५] समाज में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसका मान और महत्त्व असाधारण था। वह अपने कार्यों से परिवार का निर्विवाद व सर्वोच्च सम्मानित व्यक्ति था। कुटुम्ब का भरण-पोषण, देख-रेख, शिक्षण-प्रशिक्षण और रक्षण व संरक्षण वही करता था। इसलिये उसे संतान की रक्षा करने वाला कहा गया।[६]

'पाति रक्षत्यपर्त्य यः स पिता।' विनय, रक्षण और भरण पिता के तीन कार्य बताये गये हैं - 'प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।'[७]

ऋग्वेद में पिता, त्राता, खाद्य, सामग्रीद्याता और पोषक के रूप में उल्लेखित है।[८] अतः तद्युगीन समाज में पिता की गरिमा यश पूर्ण थी। आवश्यकतानुसार वह अपने पुत्रों को स्वयं शिक्षा प्रदान करता था। आरुणेय-श्वेकेतु ने अपने पिता से २४ वर्षों से सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर लिया था।[९] अनेक भाष्यकारों ने भी पिता को शिक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है।[१०] विद्वान् पिता अपने पुत्रों का आचार्य माना गया है। अतः पिता अपने पुत्र द्वारा प्रतिष्ठित और सम्मानित होता था। पिता के दायित्व और कार्य पर विचार करते हुए 'मनु' ने अपने विचार व्यक्त किये हैं कि "माता-पिता संतान उत्पन्न करने में जो कष्ट सहते हैं उसका बदला १०० वर्ष में उनकी संतान नही दे सकती।"

यं माता पितरो क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निस्कृतिः शक्या कर्त्तु वर्षशतैरपि।।

पिता के लिये कहा गया है कि वह अपने शील, गोत्र, चरित्र और कुल की रक्षा के लिये अपने आपको पत्नी में धारण करता है, उसी से संतान उत्पन्न होती है।

महाभारत में उल्लिखित है कि अध्ययन और पोषण प्रदान करने वाला पहला गुरु पिता ही परमधर्म है। पिता जिस प्रकार का आदेश दे वही धर्म है, वह वेद में भली-भाँति सुनिश्चित है। पिता के लिये पुत्र प्रीति-सदृश्य है, किन्तु पुत्र के लिये पिता सर्वस्व है। अतः पिता के वचन का पालन करना चाहिये। जो पिता के वचन का पालन करते हैं वह पापकर्म से मुक्त है। शरीर आदि जो भी कुछ देय पदार्थ है उन्हें केवल पिता ही पुत्र को प्रदान करता है। पिता ही धर्म है, परम तप है, जिसके प्रसन्न होने पर देवता हर्षित होते हैं।

गुरुप्रद्यः परोधर्मः पोषणाध्यापनन्वितः।
पिता यदाह धर्मः सवदैष्वपि सुनिश्चितः।।
तस्माच्यित्तुर्वचः कार्य न विचार्य कदाचन।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासकारिणः।।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने स्र्वाः प्रीणान्ति देवताः।।

कुटुम्ब का सर्वोच्च व्यक्ति होने के कारण पिता सदस्यों के प्रति सहृदय, जागरूक और उत्सर्जित रहता था। कभी–कभी सन्तानों द्वारा किये जाने वाले अपराधों पर वह कठोर और निर्मम दण्ड भी देता था। ऋग्वेद से विदित होता है कि 'ऋजास्व' के अपराध पर उसके पिता ने निर्दयतापूर्वक उसकी आँखें निकालकर उसे दण्डित किया। उसका केवल यही अपराध था कि उसने १०० भेड़े को गंवा दी थी, किन्तु यह उद्धरण वास्तविकता से दूर प्रतीत होता है। पिता बहुधा पुत्रों को उनकी जुआ खेलने जैसी त्रुटियों के कारण प्रतिपादित करता था। भार्या, दास, प्रेष्य और सहोदर भाई के अतिरिक्त पुत्र को बिगड़ते देखकर पिता उसकी निर्दयतापूर्वक पिटाई भी करता था। यह पिटाई रस्सी या बाँस की छड़ी से अपराधी की पीठ पर की जाती थी।

भार्या पुत्र, दासश्य, प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्ता पराधास्ताड्या स्यू रज्जवा वेणुदलेन वा।।
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नात्तमांगे कथन।
अतोन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरा कि विल्षम्।।

पिता अपने कुटुम्ब के सदस्यों पर असीमित अधिकार रखता था। पुत्र पर तो उसका सर्वाधिक आधिक्य माना जाता था। पुत्र का वह जैसा चाहता था वह वैसा उपयोग कर सकता था। यहाँ तक कि उसे बेच सकता था या दान कर सकता था।[११]

वैदिक युग में ऐसी कतिपय घटनायें घटी थी जिससे पुत्र पर पिता के स्वत्त्व (स्वामित्व) का अधिकार प्रमाणित होता है। इक्ष्वाकु वंशीय राजा हरिश्चन्द्र निःसन्तान थे, उन्होंने विनती कर वरुण के बखान से रोहित नामक पुत्र प्राप्त किया और उसे यज्ञ के माध्यम से वरुण को देने की प्रतिज्ञा की, किन्तु पुत्र प्राप्ति के व पुत्र प्रेम में उसका विचार बदल गया उसने यज्ञ को टालना प्रारम्भ कर दिया। कुछ दिन व्यतीत होने पर उसे जलोदर रोग हो गया जिसे वरुण देवता का कोप समझा। फलस्वरूप उसने अब अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने को सोचा। इसी बीच उसके पुत्र पुरोहित नामक पुत्र की मुलाकात अजीर्गत नामक ब्राह्मण से शुनःशेप नामक मझले पुत्र को १०० गायों के एवज में क्रय कर दिया। शुनः को यूप से बांधकर बलि दी जाने की तैयारी हुई कि वरुण सहित कई देवताओं द्वारा स्तुति करने पर उसे मुक्त कर दिया।[१२]

इसके अतिरिक्त पुत्र दान का भी उदाहरण मिलता है कि 'नचिकेता' अपने पिता वाजश्रवस द्वारा यमराज को दान कर दिया गया था –

स होवाच पितां तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तं हो वाच मृत्यवे त्वा ददामीति।।[१३]

शास्त्रकारों ने अपने पुत्र प्रकार के विवरण में क्रीत–पुत्र का भी उल्लेख किया है। प्राचीन समाज में ऐसे 'क्रीत' और 'अपबिद्ध' पुत्रों का बाहुल्य था। कई व्यवस्थाकारों ने माता–पिता को पुत्र विक्रय करने का पूर्ण अधिकार प्रदान किया है।

वशिष्ठ के अनुसार व्यक्ति माता–पिता के शोणित शुक्र से उत्पन्न होता है। उसके जन्म का कारण

माता–पिता है। अतः उन्हें पुत्र का विक्रय और त्याग करने का अधिकार है, किन्तु इकलौते पुत्र का दान और प्रतिग्रह निषिद्ध किया गया था। पिता द्वारा पुत्र के विक्रय और दान की इस प्राणाली को परवर्ती शास्त्रकारों ने निन्दित घोषित किया है। फिर भी समाज में पिता का स्थान विशिष्ट था। परिवार के सदस्यों पर उसका प्रभावशाली अधिकार था। पुत्र को तो कई शास्त्रकारों ने परतंत्र माना है। ऐसी स्थिति में परिवार में पिता का स्थान और भी महत्त्वपूर्ण था।[१४]

पिता परिवार का मुखिया होने से सम्पत्ति पर एकाधिकार रखता था। पारिवारिक सम्पत्ति पर उसका पूर्ण वैयक्तिक स्वत्त्व था। वह अपनी इच्छा से पुत्रों से इस सम्पत्ति का बँटवारा करता था। ऋग्वेद (१.२६.३) में आचार्य सायण भाष्य के अनुसार भक्त अग्नि से प्रार्थना करता है, किन्तु मेरे पिता के तुल्य हो, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, तुम मुझे अभीष्ट (धन) प्रदान करो। ऋग्वेद (३.१७.१०) में बूढ़े पिता से पुत्रों को धन प्राप्त करने का उल्लेख है। ऋग्वेद में ११.२२.१७ की व्याख्या करते हुए सायण कौषीतकी ब्राह्मण में पिता द्वारा बंटवारे की व्यवस्था को पुष्ट करता है। पितृसत्तात्मक परिवार में ही पिता द्वारा पुत्रों को धन देने के संकेत ऋग्वेद की ऋचाओं में उल्लेखित है।

पितृसत्तात्मक परिवार में नारियों की परिस्थिति के सम्बन्ध में ऋग्वैदिक युग को स्वर्णयुग कहा गया है; क्योंकि इस कालखण्ड में उनकी अत्यन्त उन्नत स्थिति थी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था में हालांकि पुत्र जन्म को अधिक महत्त्व दिया जाता था, फिर भी पुत्री को पुत्र के समान सभी सुविधायें दी जाती थीं। ऋग्वैदिक समाज का यह आदर्श था कि नारी पुरुष की प्रकृति है जिसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता। शिक्षा, धर्म और राजनीति में उन्हें पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त थे। शिक्षा के सम्बन्ध में पुत्र एवं पुत्री के मध्य कोई भेदभाव व्यवहार में नहीं लाया जाता था।[१५]

वेदों में लड़कियों का भी उपनयन संस्कार का उल्लेख है। ऋग्वेद की ऋचाओं के रचनाकारों में लगभग २० स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं। अपाला, घोषा, लोपामुद्रा, गार्गी एवं मैत्रैयी उस समय की विदुषी दार्शनिक थी। ब्रह्मवादिनी नामक स्त्रियों का एक वर्ग होता था, जो कि जीवन पर्यन्त अध्ययनरत रहता था।[१६] स्त्रियों को बहुत सम्मान दिया जाता था और वे घर तथा बाहर दोनों जगह उच्च स्थिति का आनन्द उठाती थी। ऋग्वेद के अध्ययन करने से विदित होता है कि कन्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्री जाति का सम्मान व सत्कार था। धार्मिक कृत्यों, सामाजिक उत्सवों एवं समाराहों में वे पुरुषों की तरह भाग लेती थीं। पत्नी के रूप में वे घर की साम्राज्ञी होती थीं। 'सहधर्मिणी', 'गृहस्वामिनी' एवं 'गृहिणी' जैसे शब्दों से उनके महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद के नवम् मण्डल में कमनीय स्त्री एवं कमनीय कन्या की याचना की गयी है। धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति में उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिये गये हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि पत्नी को यज्ञ करने और अग्नि में आहुतियाँ देने का अधिकार था।[१७] धर्म कार्य में स्त्री का इतना महत्त्व था कि बिना पत्नी के धार्मिक संस्कार पूरे किये जा सकते थे। शतपथ ब्राह्मण के विवरण से ज्ञात होता है कि बिना पत्नी के यज्ञ अपूर्ण समझा जाता था।[१८] इस काल खण्ड में पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के अन्तर्गत स्त्रियों का समाज में सम्मानपूर्ण स्थान सुरक्षित रहा।

संयुक्त परिवार का आदिम रूप पितृ प्रधान परिवार के समर्थक थे। मनु व कौटिल्य आदि ने पिता के जीवनकाल में पुत्र का सम्पत्ति पर कोई स्वामित्व नही माना, उसकी जीवित दशा में पिता की अनुमति से

पैतृक सम्पत्ति बँट जाती थी, किन्तु इस युग में कुछ विशेष अवस्थाओं में पिता के होते हुए बँटवारा उचित माना गया। शंख ने कहा है कि यदि पिता न भी चाहे तो उसके बूढ़े पागल और रोगी होने पर पुत्र सम्पत्ति का बँटवारा कर सकते हैं – '**अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि च।**' शनैः-शनैः यह सिद्धान्त भी माना जाने लगा कि पैतृक सम्पत्ति में पिता के साथ पुत्री का भी समान रूप से स्वामित्व है। विष्णु ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया।[१९] याज्ञवल्क्य, बृहस्पति और व्यास ने इसका समर्थन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस युग में पितृ प्रधान युग का अंत हुआ और साझेदारी वाले परिवार की पद्धति का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इससे पहले युग में ही पितृ प्रधान परिवार संयुक्त परिवार में परिवर्तित होने लगा, किन्तु उस काल में अभी तक पिता को पर्याप्त विशेषाधिकार प्राप्त थे। इस काल के अन्तिम भाग में पुत्रों के अधिकारों को स्वीकार करने से पुरातन व्यवस्था का अन्त हुआ। सम्मिलित कुटुम्ब में पिता-पुत्र के अधिकारों में समानता मानी गई है।

निष्कर्षतः प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल की संयुक्त परिवार में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत परिवार की समृद्धि,पारस्परिक स्नेह, आदर-भाव और सामूहिक उत्तरदायित्व का निर्वहन होता था। इस व्यवस्था में परिवार की हित-साधना में सभी संस्कारों की अनुपालना भी समुचित रूप से समायोजित हुई।

सन्दर्भ

१. व्यास, मधूसूदन, ऋग्वैदिक सभ्यता-संस्कृति, वाराणसी, १९८७, पृ. २१
२. मिश्र, शिव शंकर, वैदिक काल का सामाजिक व राजनीतिक इतिहास, इलाहबाद, १९९८, पृ. ३७
३. नाथ, राकेश, सोसायटी इन एंशियंट इण्डिया, आगरा, हंस पब्लिकेशन, १९९६, पृ. ६५-६६
४. महाभारत, १२.१८.१२
५. बुद्धचर्या, पृ. ५८
६. व्यासस्मृति मुक्ताफल में उद्धृत, पृ. १७६
७. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.११.१
८. पाणिनि अष्टाध्यायी, ४.१.१६२
९. पाणिनि अष्टाध्यायी, ४.१.१६७
१०. वही, ४.१.१३९, ४.२.९६
११. व्यास, मधूसूदन, ऋगवैदिक सभ्यता-संस्कृति, वाराणसी, १९८७, पृ. २२
१२. उपर्युक्त, पृ. २४
१३. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय ७१ तथा वराह पुराण, कठोपनिषद्।
१४. नाथ, राकेश, सोसायटी इन एंशियंट इण्डिया, आगरा, हंस पब्लिकेशन, १९९६, पृ. ६८
१५. व्यास, मधूसूदन, ऋगवैदिक सभ्यता-संस्कृति, वाराणसी, १९८७, पृ. २८
१६. नाथ, राकेश, सोसायटी इन एंशियंट इण्डिया, आगरा, हंस पब्लिकेशन, १९९६, पृ. ७०
१७. ऋग्वेद, १.१३१.३। धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति में उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिये गये हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि पत्नी को यज्ञ करने और अग्नि में आहुतियाँ देने का भी अधिकार था।

१८. (अ) शतपथ ब्राह्मण, ५.२.१.१०। शतपथ ब्राह्मण के विवरण से ज्ञात होता है कि बिना पत्नी के यज्ञ अपूर्ण समझा जाता था।

(ब) अन्यामिच्छ प्रकवर्यं संजायं प्रत्या सृज। ऋग्वेद, १०.८५.२२

(स) सूयां यतपत्ये शंसन्ती मनसा सवितादात्। ऋग्वेद, ११.८५.९

१९. ऋग्वेद, ३.३१.२। (न जायते तान्वो रिक्थमारैक) सम्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी पत्नी को पति के द्वारा उपहार देने की प्रथा का उल्लेख मिलता है। ऋग्वैदिक युग में भाई युक्त कन्या को पैतृक सम्पत्ति (रिक्थ) में से हिस्सा प्राप्त नहीं होता था।

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

समकालीन समाज में गीता के कर्म की महत्ता

डॉ. अमिता वैश्य*

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्माणि।।

भारतीय संस्कृति व समाज के आदर्श शास्त्र 'गीता' के अट्ठारह अध्यायों के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को प्रदत्त सदुपदेश मुख्यतः 'कर्मप्रधान' है। मुख्य रूप से गीता के द्वितीय अध्याय में कर्म सिद्धान्त का सम्यक् उपदेशात्मक निरूपण है, जो कर्म की महत्ता तथा अकर्मण्यता की अनुपयोगिता को प्रतिपादित करता है। गीता में उपदेशित कर्म का सिद्धान्त निष्कर्षतः सर्वकालीन समाज में उपादेय है, किसी काल विशेष मात्र में नहीं। गीता में वर्णित इसी कर्म-सिद्धान्त को आधार स्वीकार करके शोधपत्र प्रस्तुत किया जाना अपेक्षित है, जो मनुष्य को सर्वदा यही सदुपदेश तथा प्रेरणा प्रदान करता है कि मनुष्य का कर्म करने में ही अधिकार है, कर्म न करने में नहीं; क्योंकि निरन्तर कर्म के करने से ही कर्म न करने (अकर्मत्व) का दोष क्षीणत्व सम्भव है। कर्मरत मनुष्य को कर्मों में अनासक्त भी परमावश्यक है; क्योंकि यदि मनुष्य आसक्त भाव से कार्यरत है, तो कर्मफल का भोग आवश्यक है। अत एव अनासक्त भाव से निरन्तर कर्मरत होना भाव मात्र का धर्म तथा चरम लक्ष्य है, जो सर्वदा ही सिद्ध तथा अनुमोदित है। कर्म सिद्धान्त का अनुकरण करने वाला व्यक्ति का व्यक्तित्व परिष्कारित परिमार्जित होकर विकास की ओर अग्रसर होता है, जो समकालीन व सर्वकालीन समाज में स्व-उपादेयता प्रदान करता है। उपर्युक्त विषय का आधार ही शोधपत्र में अपेक्षित है।

मानव जीवन दो भागों में विभक्त है। जीवन का एक मार्ग ज्ञानमार्गी है तथा दूसरा कर्ममार्गी है। भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के सोपान कर्ममार्ग से ही अग्रसारित होते हैं, जिस पर चलकर व्यक्ति स्व जीवन की सार्थकता सिद्ध करता है। कर्म का सिद्धान्त अनुसरण कर्ता के व्यक्तित्त्व का परिष्कार तथा परिमार्जन करके विकास की ओर अग्रसर करता है। कर्ममार्गी सिद्धान्त का जैसा प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता में सम्पर्क किया गया है, वैसा अन्यत्व सर्वथा दुर्लभ है।

कर्म सिद्धान्त की सार्थकता में गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति उपदेश व्यक्तित्व के विकास तथा जीवन की चरम परिणति को सिद्ध करता है, जो आधुनिक समाज के लिये आदर्श है। इसी कर्म सिद्धान्त अनुमोदित कर्म तथा कर्मफल में गहन सम्बन्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म तथा कर्मफल का विवेचन इस प्रकार से किया गया है, कि मनुष्य को संसार में आने पर एक अधिकार प्रदान किया गया, वह अधिकार कर्म करने का है, किन्तु साथ में प्रतिबद्धता भी संलग्न की गयी है, कि उसका कर्म में ही मात्र अधिकार है, उसके परिणाम में कदापि नहीं; क्योंकि यदि कर्मफल में अधिकार हो जायेगा, तो लिप्तता का

* अध्यापिका, बेसिक शिक्षा परिषद, उत्तर प्रदेश ।

समावेश होगा, जिससे मानव का उत्थान असम्भव होगा। यदि यह माना जाये, कि लिप्तता से बचाव के लिये व्यक्ति कर्म ही न करें तो वह भी अनुचित है, क्योंकि कर्म तो निरन्तर मनुष्य को करना ही है, बिना कर्म के परिणाम के कारण हुये बिना ही सतत् कर्मशील रहना ही कर्म के माध्यम से व्यक्तित्व विकास का माध्यम है। यथा–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, २.४७)

गर्हित कर्म – गीता के अनुसार सकाम कर्म गर्हित माने गये हैं, यद्यपि वह समत्व बुद्धियोग से क्यों न किया जायें? गीता के अनुसार परिणाम के कारण बनने वाले मनुष्य को दीन माना गया है। यथा–

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, २.५१)

कर्मकौशल – समत्व बुद्धियोग से पूर्ण निष्काम कर्म मनुष्य को कर्म के बन्धन से मुक्ति का साधन है। समत्व बुद्धियोग ही कर्मों में कुशलता है। यथा –

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, २.५०)

कर्मों के बन्धन से मुक्त निष्काम कर्मयोगी के व्यक्तित्व में उन्नयन का मार्ग प्रशस्त होता है । इस प्रकार अनासक्त भाव से कृत कर्म व्यक्तित्व में परिष्कार करके मनुष्य में देवत्व का जागरण करते हैं।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, २.५१)

निष्काम कर्म के आचरण से मनुष्य की बुद्धि का परिमार्जन होता है। यह व्यक्तित्व विकास का सकारात्मक बिन्दु है। बुद्धि परिष्कार से व्यक्ति स्थितप्रज्ञ की श्रेणी में परिगणित होता है, तथा समस्त कामनाओं का त्याग करके अनासक्त भाव से कर्मरत रहता है।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, २.५५)

मनुष्य के दुःखों का क्षय हृदयागत प्रसन्नता से ही सम्भव है, क्योंकि तब बुद्धि समस्त विषयों से निर्लिप्त होकर परमात्मतत्त्व में ही सम्पक् स्थिर हो जाती है। इस हेतु निष्काम कर्मयोगी होना आवश्यक है। यथा–

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, २.६५)

मानव जीवन का परम लक्ष्य आनन्द में ही समाहित है। अन्तःकरण की शान्ति में ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति तथा व्यक्तित्व विकास को चरम परिणति सम्भव है। यथा –

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, २.७१)

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कर्मशीलता ही मनुष्य जीवन का मूलाधार है, क्योंकि कर्मरत रहने से जीवन के लक्ष्य की सिद्धि सम्भव होती है, जो सार्थक जीवन का आदर्श है –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ३.५)

श्रीमद्भगवद्गीता विचारों की गंगोत्री है, जिसका पान करके मानव व्यक्तित्व निरन्तर परिष्कारित होता है। गीता में वर्णित उपदेश द्वापर कालीन समाज विशेष के व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास का ही आधार मात्र नहीं है, अपितु सर्वजनीन तथा सर्वयुगीन है।

श्रीमद्भगवद्गीता का श्रवण, मनन आदि के द्वारा तथा स्व–आचरण में समाहित करने से व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास सम्भव होता है तथा व्यक्तित्व परिष्कार के सदाचरण से मानव में देवत्व का उदय तथा धरा पर स्वर्ग का अवतरण निसन्दिग्ध रूप से सम्भव होता है। अतएव आधुनिक समकालीन समाज में गीता की सार्थकता अद्वितीय है। संक्षेपतः यह ही कहा जा सकता है –

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

।इति।।

सहायक-ग्रन्थ

- श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, गोविन्द भवन कार्यालय, कोलकाता, प्रथमसंस्करण, १९८२
- गीतारहस्यचन्द्रिका, स्वामीरङ्ग रामानुजाचार्य जी, श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृत–संस्था परिषद्, बिहार, संस्करण, सं. २०६३
- श्रीमद्भगवद्गीतामयंक, स्वामी गोपालमुनि, नीता प्रकाशन, नई दिल्ली (भाग– १)
- श्रीमद्भगवद्गीता, भवेश नाथ पाठक, ईस्टर्न बुॅक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण २००७

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

प्राचीन भारतीय कर व्यवस्था

डॉ. अर्चना त्रिपाठी *

प्राचीन भारत में कर ग्रहण कोश भरने का प्रमुख साधन था। वैदिक ग्रन्थों में इसे 'बलि' कहकर सम्बोधित किया गया है।[१] राजा प्रजा की रक्षा करता था जिसके फलस्वरूप प्रजा राजा को कर देती थी। अतएव राजा को 'बलिहृत' कहा गया है।[२] अल्तेकर के अनुसार 'राज्यों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राजा की शक्ति अधिक न थी और लोग स्वेच्छा से जो कभी-कभी दे देते थे वही उसे कर रूप में प्राप्त होता था। धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। परवर्ती वैदिक वाङ्मय मे राज्याभिषेक के समय के एक मन्त्र में राजा प्रजा का खाने वाला (विशामत्ता) कहा गया है। इस सम्बोधन से यही ज्ञात होता है कि लोग राजा को नियमित रूप से कर दिया करते थे।[३] समय के साथ करारोपण के सिद्धान्त विकसित होते चले गये और महाभारत काल तक राजा को विभिन्न कर उत्पादन तथा प्रजा के हितकर कार्यों पर व्यय करने पर पूर्वापेक्षा अधिक व्यापक अधिकार प्राप्त हुआ।

कर ग्रहण के सिद्धान्त

कर की मात्रा अर्थात् कर कितना ग्रहण किया जाए इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में तीन प्रमुख सिद्धान्तओं का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार राजा पर धर्म का नियन्त्रण होता था। अतः यह धर्मानुकूल ही कर वसूल करने का अधिकारी होता था। उसे यह अधिकार नहीं था कि वह प्रजा से मनमाना कर वसूल कर सके। वाल्मीकि के अनुसार राजा धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सम्पादन करता था।[४] राज्य को कर के रूप में प्रजा की आय का छठवाँ हिस्सा ही प्राप्त होता था।[५] परन्तु अथर्ववेद के अनुसार राजा को प्रजाजनों की आय का सोलहवाँ हिस्सा कर के रूप में प्राप्त होता था।[६]

द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार कर उतना ही ग्रहण करना चाहिए जिनता करदाता को हल्का लगे और प्रजावर्ग आसानी से दे सके। जिस प्रकार जोंक, बछड़ा एवं मधुमक्खी थोड़ा-थोड़ा करके अपनी जीविका के लिए रक्त, दूध या मधु लेते हैं, उसी प्रकार राजा को अपना वार्षिक कर थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए।[७] शुक्रनीतिसार में कहा गया है कि राजा का आचरण उस माली के समान होना चाहिए जो लताओं के केवल खिले हुए पुष्पों को ही तोड़ता है। वैसे ही राजा को थोड़ा-थोड़ा कर वसूल करना चाहिए। उसे अग्नि लगाकर सम्पूर्ण वृक्ष को कोयला बना देने वाले के समान व्यवहार नहीं करना चाहिए।[८] शान्तिपर्व के अनुसार भी राजा को प्रजा पर उतना ही कर का भार लादना चाहिए जिससे उसे कष्ट न हो।[९] राजा को एक मधुमक्खी की भाँति होना चाहिए, जो बिना पौधों को कष्ट दिए हुए शहद इकट्ठा करती है।

तृतीय सिद्धान्त के अनुसार कर वृद्धि क्रमशः होनी चाहिए अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर यदि कर बढ़ाया जाए तो थोड़ा-थोड़ा बढ़ाना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह परिस्थितियों को देखते हुए कर वसूल

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पीएसजी कॉलेज ऑफ आर्ट्स एण्ड साइंस, कोयम्बत्तूर, तमिलनाडु

करें जैसे भौरा धीरे-धीरे फूल एवं फल का रस लेता है, वृत्त को काटता नही, जैसे मनुष्य बछड़े को कष्ट न देकर धीरे-धीरे गाय को दुहता है, उसके थनों को कुचल नहीं डालता, उसी प्रकार राजा को कोमलता के साथ राष्ट्ररूपी गौ का दोहन करना चाहिए। थोड़ा-थोड़ा कर लेकर धीरे-धीरे उसे बढ़ाते हुए कर वसूल करना चाहिए। उसके बाद फिर उसमें समयानुसार क्रमशः वृद्धि करनी चाहिए ताकि किसी को विशेष भार न जान पड़े। अतः शासक को प्रजा पर आवश्यकता से अधिक करारोपण नहीं करना चाहिए; क्योंकि अत्यधिक कर से प्रजा को कष्ट होगा जो प्रजा को प्रिय नहीं होता, उसे को लाभ नहीं मिलता, उसका कल्याण नहीं होता।[१०]

इसके अतिरिक्त भी प्राचीन भारत में करारोपण के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में स्मृतिकारों और धर्मशास्त्रकारों द्वारा समय-समय पर विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। यथा- राजा को राजकोष के लिए प्रजा से उतना ही धन लेना चाहिए, जितना कि वह उनकी रक्षा करने की सामर्थ्य रखता है अर्थात् राजा कर लेने का अधिकारी तभी हो सकता है जब वह प्रजा की रक्षा करे।[११] किसी व्यवसाय अथवा आय के अन्य कार्यों में जो पूँजी लगाई जाती है, उस पर कर नहीं लगाना चाहिए। लाभ पर ही कर लगाना चाहिए। किसी उद्योग-धन्धे पर तभी कर लगाना चाहिए जब वह भली-भाँति पनप चुका हो। इसके पहले कर लगाने पर उसका पनपना मुश्किल हो जाएगा। दुर्लभ किन्तु उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था राज्य के अन्तर्गत ही की जानी चाहिए और उन पर कर भी नही लगाना चाहिए। वृहस्पति के अनुसार सेवा जीवी, व्यापारी, क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों की आय पर कर की मात्रा पृथक-पृथक होनी चाहिए।[१२] कर ठीक स्थान पर, उपयुक्त समय में और उचित रूप में लगाना चाहिए उनकी वसूली अवसर के अनुरूप षट्मासिक या वार्षिक होनी चाहिए।[१३] मनु के अनुसार जिस प्रकार सूर्य वर्ष के आठ महीनों में अपनी किरणों से जल को सोखता है उसी प्रकार राजा को करों का संग्रह करना चाहिए।[१४] परन्तु साथ ही जिस प्रकार इन्द्र द्वारा वर्षा के दिनों में फलदायक वर्षा की जाती है उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा में सुख सम्पत्ति की वर्षा भी करनी चाहिए।

आपातकालीन कर- यदि राज्य में अचानक कोई अर्थ संकट उपस्थित हो जाए तो राजा को अनेक उपायों से कोश संचय करने का परामर्श दिया गया है। अधिक कर ग्रहण के लिए राजा द्वारा प्रजा से स्नेहपूर्ण प्रार्थना करने का विधान प्राप्त होता है। कौटिल्य के अनुसार यदि एक बार कर लेने से खजाने को नहीं बढ़ाया जा सका तो समाहर्ता किसी कार्य का बहाना बनाकर नगरवासियों और प्रदेशवासियों से धन की याचना करता था। इस योजना में मिले हुए लोग जनता को दिखाने के लिए ज्यादा से ज्यादा धन देते थे। यदि कोई थोड़ा धन दे तो राजा के गुप्तचर उसकी निन्दा समाज में फैलाते थे। धनी व्यक्तियों से उनकी हैसियत के अनुसार ही धन लिया जाता था।[१५] इसी प्रकार व्यापारियों से सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूँगा, घोड़े और हाथी आदि व्यापारिक वस्तुओं पर उसकी लागत का पचासवाँ हिस्सा अर्थात् दो प्रतिशत, सूत, कपड़ा, ताबा, पीतल, कोरसा गन्ध, जड़ी-बूटी और शराब पर चालीसवाँ हिस्सा अर्थात् ढाई प्रतिशत, गेहूँ, धान आदि अन्न, तेल, घी आदि रस एवं लोहे पर तथा बैल गाड़ियों पर तीसवाँ हिस्सा अर्थात् सवा तीन प्रतिशत काँच के व्यापारी तथा बड़े-बड़े कारीगरों पर बीसवाँ हिस्सा अर्थात् पाँच प्रतिशत, छोटे-छोटे कारीगरों से और वेश्यावृत्ति करने वालों से दसवाँ हिस्सा अर्थात् दस प्रतिशत, लकड़ी, बॉस, पत्थर, मिट्टी के बर्तन, पकवान और हरे शाक पर पाचवाँ हिस्सा अर्थात् बीस प्रतिशत और नट, नर्तक, गायक और वेश्याओं से उनकी कमाई का आधा हिस्सा अर्थात् पचास प्रतिशत सरकारी कर वसूल किया जाता था।[१६]

स्मृतियों में राजा को धन प्राप्ति के सात उपायों द्वारा धन अर्जित करने का परामर्श दिया गया है- दाय

(वंश का धन), लाभ (अन्य राज्यों से प्राप्त उपहार का धन), क्रय, जय (विजय प्राप्ति पर), प्रयोग (ब्याज आदि) और कर्मयोग।[१७] साथ ही कहा गया है कि "जो राजा सामर्थ्य के अनुसार प्रजा की रक्षा करता हुआ आपातकाल में (आठवें हिस्से के बदले) चौथा हिस्सा भी कर लेता है वह पाप में लिप्त नहीं होता। आपातकाल में राजा को वैश्यों से धान्य का आठवाँ भाग और सुवर्णादि का बीसवाँ भाग कर लेना चाहिए और शूद्र, कारीगर, शिल्पी आदि से अपना कार्य करा लेना चाहिए।[१८]

इसी प्रकार शुक्रनीतिसार में राजा को व्यापारियों से यह कहकर धन ले लेने का परामर्श दिया गया है कि आपत्ति की स्थिति में और इसके टल जाने पर वह इस धन को ब्याज सहित लौटा देगा और जब आपत्ति टल जाए तो उसे वास्तव में ब्याज सहित उनके धन को लौटा देना चाहिए।[१९] इस प्रकार कोश की वृद्धि भी होती थी और व्यापारियों का धन सुरक्षित भी रहता था। राजा विशिष्ट दण्ड और शुल्कादि लगाकर उस समय प्रजा से धन हरण करता था जब शत्रु राजा का नाश करने के लिए उसे सैन्य संग्रह की आवश्यकता होती थी।[२०] आपत्तिकाल को छोड़कर वह अन्यायपूर्ण तरीके से प्रजा के धन का शोषण करने का अधिकारी नहीं था।

करों से छूट– प्राचीन भारत में कर ग्रहीत व्यक्ति की क्षमता, परिस्थिति, समय, स्थान आदि विभिन्न बातों को ध्यान में रखकर किया जाता था जो व्यक्ति धनी नहीं थे उन्हें धन के रूप में कर नहीं देना पड़ता था । ब्राह्मणों को राज्य की ओर से विशेष छूट दी जाती थी। अथर्ववेद में ब्राह्मणों से कर लेने की निन्दा की गई है।[२१] वाल्मीकि के अनुसार ऋषि–मुनियों से कर लिया जाता था पर यह कर धन के रूप में नहीं होता था। उन मुनियों की तपस्या के फल का चौथाई/षडांश भाग राजा का होता था।[२२] राज्य के अन्य अनेक लोगों को कर से मुक्ति प्रदान की गई थी। यथा– दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा विधवा स्त्रियों से कर नहीं लिया जाता था साथ ही उनके योगक्षेम एवं जीविका आदि का प्रबन्ध भी राज्य की ओर से किया जाता था। जो जनपद मिलों, मकानों, व्यापारिक मार्गों, खाली मैदानों खानों और लकड़ी हाथी के जंगलों द्वारा राजा तथा प्रजा का उपकार करते थे, जो प्रदेश राज्य की सीमा पर होते थे और जिनके पास अन्न आदि बहुत थोड़ा हो उनसे कर नहीं लिया जाता था। इसके अतिरिक्त अंधे, जड़, पंगु, सत्तर वर्ष या उससे ऊपर की आयु वाले वृद्ध व्यक्तियों से भी किसी प्रकार का कोई कर नहीं लिया जाता था।[२३]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राज्यों में राजा को कर राज्य के कल्याण, राज्य की रक्षा एवं विकास कार्यों में व्यय करने के लिये दिया जाता था। राजकोष की वृद्धि आवश्यक होने पर भी राजा को कर ग्रहण के अनुचित एवं अन्यायपूर्ण साधनों का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त नहीं था।

सन्दर्भ-सूची

१. भरन्ते विश्वे बलिं स्वर्गः। ऋग्वेद, १.७०.५

२. (i) बलिहृतः सहोभिः। ऋग्वेद, ७.६.५
   (ii) बलिहृतस्करत्। ऋग्वेद, १०.१७३.६

३. ए.एस. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, अध्याय–१३, पृ. २०२

४. तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता।
   पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती। वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, ६.५३

५. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
   शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्। महाभारत, शान्तिपर्व, ७१.१०

६. षोऽशं यमस्यामी सभासदः। अथर्ववेद, ३.२९.१
७. यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः। मनुस्मृति, ७.१२९
८. मालाकार इवग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत्। शुक्रनीतिसार, ४.२.१११
९. प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्। वप्सौपमन्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना।।
भृतो वत्सो जातबलः पीड़ां सहित भारत । न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिरम्।। महाभारत, शान्तिपर्व, ८७.२०, २१
१०. ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा सम्प्रीतदर्शनः।
प्रद्विपन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्।। महाभारत, शान्तिपर्व, ८७.१९
११. तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात्। मनुस्मृति ८.३०५
१२. राजाऽऽददीत षडभागं नवमं दशमं तथा
शुद्र विक्षत्रजातीनां विप्राद्गृहीति विंशकम्।। विंशति स्मृति, व्यवहारकाण्ड, १३.१६
१३. देशस्थित्या बलिं दद्युर्मूतं पण्मासवार्षिकम्।। वृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड, १७४४
१४. अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्।। मनुस्मृति, ९.३०५
१५. तस्याकरणे च समाहर्ता कार्यमपदिश्य पौरजानपदाभक्षेत योगपुरुषाच पूर्वगतिमात्र दोन प्रदेशेन राजा पौरजानपदान् भिक्षेत् कापटिकाना प्रयच्छतः कुत्पयेयुः सारतो या हिरण्यमायान् याचेत। कौटिल्य-अर्थशास्त्र, ५.२.९०
१६. सुवर्णरजतमणिमुक्ताप्रवाला हस्तिपण्याः पञ्चाशत्कराःकुशीलवा रूपाजीवाश्च वेतनार्थ दद्युः। कौटिल्य-अर्थशास्त्र, ५.२.९०
१७. सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सप्तप्रतिग्रह एव च।। मनुस्मृति, १०.११५
१८. धान्येऽष्टमं विशां शुल्क विंशं कार्षापणावरम्।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा।। मनु० १०/१२०
१९. धनिकेभ्यो भृतिं दत्त्वा स्वापत्तौ तद्धनं हरेत्।
राजा स्वापत्समुतीर्णस्तत् स्वं दद्यात् सवृद्धिकम्। शुक्रनीतिसार, ४.२.११
२०. यदा शत्रुविनाशार्थ बलसंरक्षणोद्यतः।
विशिष्टदण्डशुल्कादि धनं लोकोत्तदा हरेत्। शुक्रनीतिसार, ४.२.१०
२१. ये वास्मिन्छुल्कमीषिरे ..... मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते। अथर्ववेद, ५.१५.३
२२. (i) यत् करोति परं धर्म मुनिर्मूलफलाशनः।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः। वाल्मीकि-रामायण, अरण्यकाण्ड, ६.१४
२३. दुर्गसेतुकर्मवणिक्पथशून्यनिवेशखनिद्रव्यहस्तिवनकर्मोपकारिणं प्रत्यन्तमल्पप्रमाणं वा नयाचेत। कौटिल्य-अर्थशास्त्र, ५.२.९०

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

श्रीमद्भागवत महापुराण का भौगोलिक वैशिष्ट्य

गोपाल कृष्ण*

श्रीमद्भागवत महापुराण पुराण साहित्य का ही नहीं अपितु यह दिव्य ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय की सर्वोकृष्ट परिणति है। वैसे तो यह वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु इसके सम्यक् अध्ययनोपरान्त निश्चितमति होकर यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ सार्वभौमिक रूप से देश, काल, परिस्थिति, सम्प्रदाय, धर्मादि द्वन्दों से परे अखिल विश्व के जीव जगत् के लिये आत्यान्तिक कल्याण के साथ-साथ व्यावहारिक, सामाजिक, राजनीतिक व भौगोलिक ज्ञान-विज्ञान को समझने का वेदादि सम्मत प्रामाणिक साधन हैं।

''अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्।''[१]
''इतिहास पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।''[२]

उपर्युक्त श्रुतिवाक्यों से यह सिद्ध होता है कि जैसे वेद नित्य एवं स्वयं प्रमाण हैं ठीक वैसे ही पुराण भी अनादि नित्य एवं स्वयं प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत महात्म्य में विशेषता यह स्पष्ट उद्घोष है - **''तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।**[३] अर्थात् यह दिव्य ग्रन्थ शब्दमय स्वरूप में साक्षात् भगवान् का ही श्री विग्रह है। भगवान् के अंशावतारी श्री व्यास जी को जिसकी रचना से परम शान्ति की अनुभूति हुई, वह दिव्य रत्न है यहाँ इसमें सकाम कर्म, निष्काम कर्म, हेतुकी, अहेतुकी भक्ति, द्वैत-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत ज्ञान के साथ-साथ व्यवहारिक धरातल पर वैश्विक भौगोलिक ज्ञान-विज्ञान का प्रामाणिक वर्णन प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। पुराणों के साथ उनके विषय ज्ञान के पञ्च लक्षण का सम्बन्ध प्राचीन तथा अतिघनिष्ठ है -

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।[४]

पुराणों की मान्य प्रचलित परम्परा में ये पाँच विषय वर्णनीय माने गये हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत महापुराण में पुराण के दस निम्नवत लक्षण प्राप्त होते हैं।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।।[५]

सर्ग भगवान् की सामान्य सृष्टि है और विसर्ग विशेष सृष्टि है। सृष्टि सृजन के पश्चात् उसकी स्थिति का नाम ही स्थान है - **''स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।**[६] अर्थात् प्रतिपल विनाश की ओर बढ़ने वाली सृष्टि को भगवान् के द्वारा निश्चित स्थान एवं एक मर्यादा में रखना ही स्थान लीला है।

---

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, वी.एस.एस.डी. कॉलेज, कानपुर, उत्तर प्रदेश

श्रीमद्भागवत में इसी स्थान लीला के अन्तर्गत ही भूगोल खगोल की स्थिति का बड़ा ही विस्तृत और प्रामाणिक वर्णन किया गया है। मनुष्य की दृष्टि अत्यन्त स्थूल होती है वह अपने आस-पास के कुछ स्थूल स्थानों को ही देख पाता है। सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध में साधारण मनुष्य की जिज्ञासा बहुत बड़ी होने के कारण प्रायः अतृप्त ही रहती हैं। इन्हीं कुण्ठाओं के कारण वर्तमान में भी मनुष्यों के द्वारा यत्र तत्र पृथ्वी के गुप्त भू-भागों का अन्वेषण सतत् जारी है बहुत कुछ अपने प्रयास से खोजा भी है पर सत्यता यही है कि अभी तक इस वैज्ञानिक युग में भी सम्पूर्ण पृथ्वी के स्थूल भू-भागों को सम्यक् रूप से खोजा नहीं जा सकता है। बहुतेरे जंगल, पर्वत, नदी, समुद्र तल ऐसे ही पड़े हैं जिनको अभी भी मनुष्य खोज नहीं पाया है और आगे निकट भविष्य में खोजने की कोई पुष्ट सम्भावना भी नहीं दिखती है। ये तो मात्र इस पृथ्वी की बात है जिस पर हमारा जीवन है जबकि इसके अतिरिक्त अन्य ग्रहों, लोकों में भी जीवन की सम्भावनाओं से विज्ञान भी निषेध नहीं कर पा रहा है और अन्य ग्रहों पर जीवन की संभावना को लेकर कभी चन्द्रमा पर कभी मंगल पर मनुष्यों के प्रयास सतत् जारी है। जहाँ तक भागवत आधारित भूगोल की बात की जाये तो श्रीमद्भागवत का भौगोलिक दर्शन अत्यन्त बृहद् है वह असंख्य ब्रह्माण्ड को स्वीकार करता है। भूमण्डल के विस्तार का वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवत में कहा गया है।

''उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति-
यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते।''[७]

अर्थात् भूमण्डल का स्वरूप इतना बृहद है कि जहाँ तक भगवान् भुवन भास्कर का प्रकाश जाता है, जहाँ तक तारागण के सहित चन्द्रदेव का दर्शन दीख पड़ता है, वहाँ तक अपने भूमण्डल का विस्तार समझना चाहिए। इसी के अन्तर्गत सप्तद्वीप व सप्तसमुद्रों का भी समावेश हो जाता है -

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्-
पूर्वमस्मातदुत्तर उत्तरो यथा संख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लप्ताः।[८]

अर्थात् उन सात द्वीपों का नाम जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि कुश, क्रौञ्च, शाक, और पुष्कर हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये क्रमशः अपने पूर्व से दोगुने हैं। ऐसे ही जो सात समुद्र हैं वो भी क्रमशः पूर्व वाले से परिमाण में दोगुने हैं।

भू-लोक का तात्पर्य केवल पृथ्वी ही नहीं है, अपितु उसके अन्तर्गत बहुत से ऐसे सूक्ष्म व अवश्य लोक भी हैं जिनका ज्ञान मनुष्य को अभी भी नहीं हो सका है। पूज्य स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती जी अपनी भागवती टीका 'भागवत दर्शन' में कहते हैं कि सांसारिक अधूरी दृष्टि वाले लोग जब हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों के द्वारा वर्णित लोक लोकान्तर और अनेकविध समुद्र एवं पृथ्वी स्तरों का वर्णन सुनते हैं तब उनकी बुद्धि आश्चर्य चकित हो जाती है और वे अपनी ससीमित बुद्धि से सहसा विश्वास नहीं करते हैं। अपितु ऋषि-मुनियों की बातों को अतिशयोक्ति मानकर उनके ही अस्तित्व पर प्रश्न उठाने लगते हैं। अनेकों वर्षों तक योग साधना करके विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होकर ऋषि मुनियों ने जिन सूक्ष्म तत्त्वों और स्थानों का अनुभव प्राप्त किया था वह केवल कुछ वर्षों तक ग्रन्थ पढ़ने वालों और जड़ यन्त्रों पर सर्वथा विश्वास करने वालों को कैसे प्राप्त हो सकता है? श्रीमद्भागवत में भुवनकोश वर्णन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है जिसके अन्तर्गत समस्त भुवनों का नाम उनकी स्थिति उनका विस्तार तथा उनके स्वरूप का विस्तृत और प्रामाणिक वर्णन किया गया है। इनकी भौगोलिक स्थिति को समझने के लिये भुवनकोश के केन्द्र स्थानीय

पर्वत मेरु को जानना समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। वर्तमान में भले ही पृथ्वी का अलग-अलग स्वरूप बताया जाता हो, किन्तु पुराणों में पृथ्वी को कमलाकार के स्वरूप में माना गया है, जिसके सम्बन्ध में वायु पुराण का निम्न कथन है - '**अव्यक्तात् पृथ्वीपद्मं मेरुपर्वतकर्णिकम्।**[९] अर्थात् यह समस्त पृथ्वी पद्म पुष्प की तरह है, और जो मेरु पर्वत है वह इसके मध्य का वह स्थान है जहाँ से कमल की पंखुड़ियों का फैलाव होता है। एक तरह से मेरु पर्वत को पृथ्वी की नाभि माना गया है इसी के आधार पर सम्पूर्ण भुवनकोश की कल्पना की गई है। मेरु पर्वत इलावृत वर्ष के मध्य में स्थित है और इसी को नवद्वीपों में प्रथम जम्बूद्वीप का केन्द्र माना गया है। जम्बूद्वीप क्षारसमुद्र से परिवेष्टित है। वर्तमान में वैश्विक भौगोलिक स्थिति में जितनी पृथ्वी स्थूल दृष्टि से दिखती है वह सब जम्बूद्वीप के अन्तर्गत ही आती है। इसका प्रमाण यह है कि वर्तमान में समस्त पृथ्वी कहीं न कहीं क्षारसमुद्र से ही आवृत है।

इस जम्बूद्वीप में भी नौ वर्ष हैं- १. भारत वर्ष, २. हरि वर्ष, ३. किंपुरुष वर्ष, ४. रम्यक् वर्ष, ५. रमण वर्ष ६. कुरु वर्ष, ७. भद्राश्व वर्ष, ८. केतुमाल वर्ष, ९. इलावृत वर्ष। इसमें भी सिर्फ भारतवर्ष को भूमण्डलीय माना जाता है अन्य आठ वर्षों को देवलोकीय वर्ष माना जाता है। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में इसके सम्बन्ध में वर्णन आया है कि - ''**तत्रादि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति।।**[१०] अर्थात् जम्बूद्वीप में भी भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है। अन्य आठ वर्ष स्वर्ग से लौटे हुए लोगों के लिए शेष पुण्य का उपभोग करने का स्थान है। उनको इसीलिये भौमस्वर्ग की उपमा दी गई है।

समस्त नौ वर्षों की स्थिति का निर्धारण मेरु पर्वत से ही किया जाता है, इस सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में वर्णन उपलब्ध होता है -

स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः।
चत्वारो यस्य देशा वै नानापार्श्वेष्वधिष्ठिताः।।
भद्राश्वो भरतश्चैव केतुमालश्च पश्चिमः।
उत्तरा कुरवश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः।।[११]

अर्थात् मेरु पर्वत से पूर्व की ओर भद्राश्व वर्ष दक्षिण में भारतवर्ष पश्चिम में केतुमाल में कुरुवर्ष की स्थिति मानी जाती है।

प्रत्येक वर्ष में अपने कुछ निश्चित प्राकृतिक संसाधन अवस्थित हैं, जैसे सबका अपना एक विशिष्ट पर्वत है, एक विशिष्ट नदी है, वृक्ष कुञ्ज है और प्रत्येक वर्ष में आराधना के लिये भगवान् का एक विशिष्ट स्वरूप है।

इसी जम्बूद्वीप के अन्तर्गत जो भारतवर्ष है। पहले इसका नाम '**अजनाभ वर्ष**' था - '**अजनाभं नामैतवर्ष भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति।**'[१२] अर्थात् वर्तमान में जिसको हम भारत के नाम से जानते हैं। इसका पहले नाम 'अजनाभ वर्ष' था बाद में राजा भरत के समय से इसका नाम भारतवर्ष पड़ा। जिन भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा वो भरत कौन थे। इस विषय में भी प्रायः मतैक्यता नहीं है। अति प्राचीनता में जायें तो मनु पुत्र हुए - 'प्रियव्रत'। जिनके बेटे हुए 'आग्नीध्र' जिनके बेटे हुए नाभि, नाभि के पुत्र थे 'ऋषभ' जिनके सौ पुत्रों में जो ज्येष्ठ थे उनका नाम था 'भरत' अधिकांशता यही धारणा है कि इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह देश 'अजनाभ' से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाया। कतिपय यह

भ्रम फैलाया जाता है कि दुष्यन्त के बेटे भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है उनका वह कथन प्रमाणों के आधार पर सत्य से परे व अप्रमाणिक है, जबकि ऋषभ पुत्र भरत के नाम पर अजनाम वर्ष का नाम भारतवर्ष पड़ना प्रमाण सिद्ध है। पुराणों में एतद्विषय के बहुत से श्लोक प्राप्त होते हैं।

''ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्यार्षभः पुत्रम्महाप्रव्रज्जया स्थितः।।
हिमाद्रं दक्षिणं वर्षे भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तद् भारतं वर्षे तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।[१३]

ऋषभ पुत्र भरत के नाम पर ही इस अजनाभ वर्ष का नाम भारतवर्ष पड़ा है। एतद् विषय में भागवत जी के पंचम स्कन्ध में स्पष्ट रूप से वर्णन प्राप्त होता है –

''भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय।
सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे।।[१४]

भारतवर्ष के आराध्य देव कच्छप हैं, पुराणों में जहाँ भी भारतवर्ष का नामोल्लेख हुआ है वहाँ इसको धर्मप्रधान कर्मप्रधान ही माना गया है। भारतवर्ष प्राचीन समय से ही धार्मिक, आर्थिक, भौतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, विविध पुराणों में एतद्विषयक बहुत से वचन प्राप्त होते हैं।

''पृथिव्यां भारतं वर्ष कर्मभूमिरुदाहृता।।''[१५]

अपि च –

''कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं गच्छताम्।।''[१६]

श्रीमद्भागवत में देवता लोग भी भारतवर्ष में जन्म लेने वाले मनुष्यों के भाग्य की सराहना करते हुए कहते हैं।

''अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत् स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपथिकं स्पृहा हि नः।।[१७]

अर्थात् इन भारतवासियों ने ऐसे कौन से पुनीत कार्य कर दिये जो इनको भारत जैसे पुण्यभूमि में जन्म प्राप्त हुआ।

सम्यक् रूप से विचारोपरान्त श्रीमद्भागवत के भौगोलिक वैशिष्ट्य में हम यह कह सकते हैं कि एक ब्रह्माण्ड में चौदह लोक हैं उनमें एक लोक का नाम भूर्लोक है जिसमें सात द्वीप हैं, प्रथम द्वीप नाम जम्बूद्वीप है जिस जम्बूद्वीप में नौ वर्ष हैं इसी में जो मनुष्यों के रहने योग्य है वह भारत वर्ष है अन्य जो वर्ष हैं वो देवलोक तुल्य हैं। भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य जितने देश द्वीप उपलब्ध होते हैं सही मायने में वे भारत वर्ष के ही अंग विशेष हैं। वर्तमान काल में हम जिनको अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका, एशिया आदि नामों से जानते हैं। विष्णु पुराण में उनको भारतवर्ष का ही प्रदेश विशेष माना गया है –

''भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान् निबोधत।
इन्द्रद्वीपः कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।।[१८]

इन वचनों का यह स्पष्ट तात्पर्य है कि आज तक स्थूल रूप से जितनी भी पृथ्वी उपलब्ध है वह सब भारतवर्ष है और जिसको हम हिन्दुस्तान कहते हैं वह भारतवर्ष का एक द्वीप मात्र है। अभी गत कुछ शताब्दियों को ही देखें तो कालक्रम में इसी भारत से बहुत से भाग पृथक् होकर आज एक स्वतंत्र देश के रूप में विद्यमान हैं। इस प्रकार श्रीमद्भागवत महापुराण में इन सबका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। भारतवर्ष की नदियाँ, पर्वत अन्य भौगोलिक वैशिष्ट्य को समझने के लिये श्रीमद्भागवत का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

सन्दर्भ-सूची

१. वाजसनोयिब्राह्मणोपनिषद्, ४.११.५
२. श्रीमद्भागवत, १.४.२०
३. पद्मपुराणोक्त 'श्रीमद्भागवत माहाम्त्य', ३.६२
४. श्री बल्देव उपाध्याय कृत 'पुराण विमर्श', पृ. १२५
५. श्रीमद्भागवत, २.१०.१
६. श्रीमद्भागवत, २.१०.४
७. श्रीमद्भागवत, ५.१६.१
८. श्रीमद्भागवत, ५.१.३२
९. वायुपुराण, ३४.३७
१०. श्रीमद्भागवत, ५.१७.११
११. मत्स्यपुराण, ११२.४३-४४
१२. श्रीमद्भागवत, ५.७.३
१३. मार्कण्डेय पुराण, ५३.३९-४०
१४. श्रीमद्भागवत, ५.७.१,३
१५. ब्रह्मपुराण, २७.२
१६. विष्णुपुराण, २.३.२
१७. श्रीमद्भागवत, ५.१९.२१
१८. मत्स्यमहापुराण, ११४.८-९

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

संस्कृत नाटकों में नारी चित्रण

निर्मला*

सारसंक्षेप – साहित्य समाज का दर्पण माना गया है जो कुछ समाज में घटित होता है वही साहित्य में देखने को मिलता है। साहित्य पढ़ने से ही हमें उस समय में नारी की स्थिति के बारे में पता लगता है। किसी भी देश के विकास में नारी का योगदान महत्त्वपूर्ण होता है। कालिदास ने अपने युग में बहुत आगे बढ़कर नारी जाति के सम्मान और रक्षा के लिए आवाज उठाई। नाट्यकारों का मत है कि मानव जीवन का प्रत्येक क्षेत्र नारी के अभाव में अधूरा है। गृहस्थ जीवन में स्त्री पुरुष रथ के दो पहिये के समान माने जाते हैं जो किसी एक के बिना दूसरे का जीवन अपूर्ण माना गया है। नारी गृहस्थ जीवन का केन्द्र बिन्दु होने के कारण समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। नारी के व्यक्तित्व ने नाट्य साहित्य को हर युग में प्रभावित किया है। आदि काल से ही स्त्री को पुरुषों से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कालिदास ने बौद्ध युग की परम्पराओं और रूढ़ियों से हटाकर नारियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था को भी आवश्यक माना है।

भारतीय समाज में नारी का एक विशिष्ट एवं पूर्ण स्थान दिया गया है। वेद–पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों में पुरुष ने सदा उसे अर्धाङ्गिनी माना है। वे बल की प्रतीक हैं। नारी की प्रशंसा एवं सम्मान प्रदान करते हुए मनुस्मृति में मनु ने कहा है –

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया।।

अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा की जाती है वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ पर स्त्रियों की पूजा नही की जाती है वहाँ पर कार्य भी सफल नही होते हैं। संस्कृत नाटको में कहीं पर नारी की प्रशंसा की गई है और कहीं पर नारी की निन्दा भी की गई है।

बीज शब्द – गान्धर्व विवाह (प्रेम विवाह), पर्दा–प्रथा, अर्धाङ्गिनी, सबला, पतिव्रता, सखी–भार्या, पथदर्शिका, सती–प्रथा, निर्मात्री, प्रेमिका, नारी सम्मान, गृहिणी, सद्व्यवहार, त्याग, आचरण, नारी शिक्षा।

कन्या के रूप में नारी – नारी का प्रथम रूप कन्या तथा पुत्री होना है। कन्या का जन्म प्राचीन समय से ही अत्यन्त दुःखद माना जाता था तथा पिता अपनी अविवाहित पुत्री के लिए अत्यधिक चिन्तित रहता था। महाकवि कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् से स्पष्ट हो जाता है कि कन्या निश्चय ही पराया धन होती है; क्योंकि महर्षि कण्व पुत्री शकुन्तला को उसके पति के घर भेजकर बड़े संतुष्ट हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी की रखी गई धरोहर को उसके स्वामी को लौटाने पर व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है। उसी प्रकार शकुन्तला को पति के घर भेजकर मुझे भी आज मानसिक शान्ति मिल गई है।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।[१]

* सहायक प्राध्यापिका (संस्कृत), राजकीय महाविद्यालय कृष्ण नगर, महेन्द्रगढ़, हरियाणा

कालिदास ने नारी स्वतन्त्रता को वर्जित बताया है। विवाह के बाद नारी पर उसके पति की सत्ता रहती थी –

सतीमति ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।।[२]

नारी का सामाजिक जीवन

(क) पर्दा-प्रथा – संस्कृत नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पर्दा-प्रथा का भी समाज में प्रचलन था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में दिखाया गया है कि शकुन्तला तपस्वियों के साथ जब राजा दुष्यन्त के दरबार में जाती है तो वह घूँघट निकाल कर ही दुष्यन्त के समक्ष उपस्थित हुई थी।

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्।।[३]

समाज में उस समय बहु-विवाह प्रथा विद्यमान थी। परन्तु यह प्रथा राजाओं अथवा धनिक वर्ग में ही प्रचलित थी। विवाह वैदिक रीति से सम्पन्न होते थे। विवाह आदि के लिए धार्मिक बन्धन थे। क्षत्रियों को ब्राह्मण से विवाह की अनुमति नही थी। दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम निवेदन तभी करता है जब उसको ज्ञात हो जाता है कि यह क्षत्रिय कन्या है, ब्राह्मण कन्या नही, गान्धर्व विवाह भी स्वीकार्य थे। दुष्यन्त और शकुन्तला ने गान्धर्व विवाह विधि से ही विवाह किया था।

(ख) सती-प्रथा – स्त्रियों का शैक्षिक स्तर ऊँचा होने पर भी उन्हें समाज की यातनाएँ झेलनी पड़ती थी। स्त्रियाँ विधवा जीवन व्यतीत करना उचित नही समझती थी वे पति के साथ सती हो जाती थीं– **एकवृत प्रवेश निश्चया न रोदिमि।**[४]

(ग) विधवा के रूप में नारी – कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्रम् में विधवा की दयनीय अवस्था स्पष्ट होती है – '**पुनर्नवीकृत वैद्यव्यदुःखया।**[५]

मृच्छकटिक में चारुदत्त की पत्नी धूता अपने पति के मृत्युदण्ड का समाचार सुनकर अग्नि में कूदने का निश्चय करती है।[६] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय स्त्रियों के लिए विधवा जीवन अभिशाप स्वरूप था। विधवा को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि विधवा को समाज में कोई आदरणीय स्थान प्राप्त नही था उनका जीवन तपस्विनी नारी की तरह होता था। दूसरों की पत्नी को विधवा बनाने वाला अपनी पत्नी के लिए वैद्यत्य मोल लेता था। उस समय विधवा की वेशभूषा अलग ही होती थी।

पत्नी के रूप में नारी – माता का दूसरा रूप पत्नी माना गया। महाकवि कालिदास के सर्वोत्कृष्ट नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नारी को गृहिणी पद से सुशोभित किया गया है – '**अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे।**[७]

प्राचीन युग में नारी का कार्य परिवार तक ही सीमित था। वह गृह स्वामिनी होती थी। पारिवारिक समस्याओं के विषय में पति-पत्नी से विचार-विमर्श करता था। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में राजा महासेन अपनी पुत्री के विवाह के विषय में पत्नी से राय लेता है।[८] शकुन्तला एक आदर्श पतिव्रता स्त्री थी। दुष्यन्त तो गान्धर्व विवाह करके राजधानी लौट जाता है, परन्तु शकुन्तला इसी के विचारों में निमग्न रहती है। वह

उसके चिन्तन में इतनी खोई है कि उसे आये हुए दुर्वासा का आभास तक नही होता है और न ही उनकी उच्च स्वर युक्त वाणी। मुनि दुर्वासा के अभिशाप के कारण शकुन्तला अपनी इस दुर्दशा का उत्तरदायी भी अपने पति को नहीं मानती है, अपितु अपने पूर्व जन्मों का फल मानकर सब कुछ स्वीकार कर लेती है।[९]

मध्यमव्यायोग में केशवदास ब्राह्मण राक्षस को अपना शरीर देकर अपने परिवार की रक्षा करना चाहता है। लेकिन उसकी पत्नी कहती है कि पतिव्रता स्त्री के लिए पति ही धर्म है। इसलिए परिवार की रक्षा के लिए मैं अपना शरीर राक्षस को देना चाहती हूँ।[१०]

मृच्छकटिकम् में पतिव्रता धूता अपने अपने पति की मृत्यु का समाचार सुनने से पहले ही अग्नि में प्रवेश करना चाहती है। भास ने नारी के लिए पति को ही सर्वस्व कहा है। प्रतिमानाटकम् में सीता ने राम के साथ वन में जाने की इच्छा व्यक्त की तो लक्ष्मण में कहा – **'मर्तृनाथ हि नार्य'** पति ही स्त्री का स्वामी होता है। जब पति वन में जा रहा है तो पत्नी को भी अवश्य वन में जाना चाहिए। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री का अपना कोई व्यक्तित्व नही था।

पराधीन नारी – संस्कृत नाटकों में नारी को पराधीन बताया है। वैसे तो समाज में रहते हुए कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप में स्वतन्त्र नही रह सकता। उसे सामाजिक मर्यादा के अनुसार ही कार्य करना होता है। भास, कालिदास, शूद्रक के समय नारी सामाजिक व आर्थिक दृष्टि में परतन्त्र थी।

सखी के रूप में नारी – कालिदास के नाटकों में सखी प्रेम का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। सखी ही दूसरी सखी के मन की गहराई को माप सकती है। उसकी सभी भावनाओं को जान सकती है और सखियों की मनोकामनाओं को सखियाँ ही पूर्ण करती हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में शकुन्तला प्रत्येक कार्य अपनी सखियों से ही पूछकर करती है; क्योंकि सखियाँ ही उचित अनुचित का ज्ञान करवाती हैं। वह कोई भी बात अपनी सखियों से नही छिपाती है। दुष्यन्त के अत्यधिक आग्रह करने पर वह यही कहती है कि मुझे अपनी सखियों से पूछ लेने दीजिए। सखी की विदाई का कालिदास ने बहुत करुणा से युक्त वर्णन किया है। शकुन्तला की विदाई के समय दोनों सखियों की आँखे आँसूओं से भरी हुई हैं। इन सखियों के व्यवहार से हमें ज्ञान होता है कि सखियों को सुख-दुःख में समान अनुभूति रखनी चाहिए और सखी के सुख के लिए अपने दुःख की चिन्ता नही करनी चाहिए।[११]

माता के रूप में नारी – भारतीय समाज में माता का स्थान अत्यन्त ऊँचा गरिमा युक्त और महत्त्वशाली है। सन्तान का पिता की अपेक्षा माँ से अधिक अपनत्व होता है। नौ महीने अपनी कोख में रखने के कारण माता को भी अपनी सन्तान से अधिक मोह होता है। संस्कृत साहित्य में माता को अत्यन्त सम्मानजनक स्थान दिया गया है। कालिदास ने अपने नाटकों में माँ की उत्कृष्ट भूमिका मानी है। उनके अनुसार पति के वंश को चलाने के लिए पत्नी ही एकमात्र कारण थी। वीर पति के समान स्त्रियाँ वीर पुत्र की माता बनने को भी लालायित रहती थीं। वीर पुत्र की माँ बनने में वे गौरव अनुभव करती थी एवं अपने पुत्र की सकुशलता के लिए प्रार्थना करती थी। स्त्री का स्थान परिवार में मातृत्व के आधार पर निश्चित होता था तथा माता को देवता से भी पूजनीय माना जाता था – **माता किल मुन्यार्ण देवतानां च दैवतम्।**[१२] माँ भी सन्तान के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करती थी। निःसन्तान स्त्री का जीवन व्यर्थ माना जाता था। महाकवि कालिदास ने अपने रूपक त्रोटक में कहा है कि पुरुरवा-उर्वशी को पुत्रवती का स्वागत है ऐसा कहकर आसन पर बैठाया जाता है। पुत्र दर्शन से ही माँ का रोम-रोम पुलकित हो उठता था।[१३]

स्त्री अधिकार – कालिदास ने नारी को समाज में पूजनीय स्थान दिया है, परन्तु पत्नी पर पति का पूरा अधिकार प्रकट करना ही महाकवि को अभीष्ट है। पति की सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार था या नही इसका कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है, परन्तु विवाह के समय उसे जो आभूषण इत्यादि प्राप्त होते थे। उस पर उसका पूर्ण अधिकार था इसे हम स्त्रीधन की संज्ञा दे सकते हैं। महाकवि कालिदास ने अपनी किसी भी रचना में स्त्रीधन शब्द का उल्लेख नही किया है, किन्तु विवाह के अवसर पर पार्वती, इन्दुमती, शकुन्तला आदि कई स्त्रियों को विशिष्ट रूप से अलंकरण वस्तुओं को प्रदान कराया है। पतिगृह को प्रस्थान करती हुई शकुन्तला को सर्वाधिक स्त्रीधन प्रदान करवाया है। शकुन्तला के लिए दो ऋषि कुमारों को अपने हाथ में आभूषण लेकर प्रविष्ट हुए दिखलाया है जो कहते हैं ये अलंकरण हैं इसे आप धारण करें।

पति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति उत्तराधिकारी के अभाव में राजकोष के हवाले हो जाती थी। यह भी विदित होता है कि विधवा को अपने पति की सम्पत्ति पर कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नही था। मन्त्री के धनमित्र के पुत्र होने के सम्बन्ध में जाँच करने पर पता चला कि उसका कोई पुत्र नही है उसका निर्णय था कि सम्पत्ति राजकोष में जानी चाहिए। लेकिन गर्भस्थ शिशु पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता था।[१४]

भगिनी – कालिदास के नाटकों में भाई एवं बहन के सम्बन्धों का विस्तृत वर्णन नही मिलता, परन्तु भाई के प्रति बहन के प्रेम की व्यंजना प्रकट होती है। मालविका अपने भाई माधवसेन को यज्ञसेन के बन्दीगृह से मुक्त हुआ सुनकर सन्तोष प्रकट करती हुई कहती है – 'अरे इतना ही बहुत समझो की उनके प्राण बच गऐ हैं।'[१५] मालविका के लिए यह खुशी अधिक नही की उसका भाई राजा बन गया, अपितु वह इसे ही अपना सौभाग्य मानती है कि उसका भाई जीवित है।[१६] आर्य कौशिकी का भाई वशुमति मालविका को बचाते–बचाते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, कौशिकी जब यह वृतान्त राजा अग्निमित्र को सुनाती है तो उसकी आँखों में आँसू आ जाते हैं, धारिणी अपने हीन जातीय भाई वीरसेन का पत्र आया जान उसे देव मंदिर में सुनती है और पत्र से विदर्भ देश का समाचार ज्ञात होता है।[१७]

प्रेमिका – कालिदास ने जहाँ नारी जीवन के अनेक पक्षों का उद्घाटन किया है वहाँ नारी प्रेम को उसने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उसने प्रेम के महत्त्व पर प्रकाश डालकर उसकी सार्थकता विवाह में ही मानी है। शकुन्तला, उर्वशी, मालविका आदि उत्तम प्रेमिकाएँ हैं। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला प्रभाावित हो गई थी। उसका प्रभावित होना दुष्यन्त से छिपा भी नही था। शकुन्तला के हाव–भावों को देखकर राजा दुष्यन्त अपने में सोचता है और कहता है कि –

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः।।[१८]
स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति।।[१९]

शकुन्तला की भाँति उर्वशी भी प्रिय के स्नेह में लीन होकर अपने कर्तव्य की उपेक्षा कर देती है। दिव्य शक्तियों से सम्पन्न होने पर भी वह एक मानवी प्रेमिका की भाँति अपने प्रति पुरुरवा के प्रेम को जानने के लिए उत्सुक हो उठती है उसके मुख से प्रेयसी के रूप में अपना नाम सुनने को हृदय बेचैन हो उठता है। उसके द्वारा व्यक्त प्रेम की आकुलता में अन्य नारीगत प्रेम की आशंका उसको अधीर कर डालती है।[२०] उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर पुरुरवा कम प्रभावित नही हुआ। शकुन्तला के समान ही उर्वशी भी पुरुरवा से प्रभावित हो गई थी। मानव जाति के गौरव पुरुरवा की शक्ति और सौन्दर्य के प्रति उसका आकर्षण झलकने लगता है, देवों के स्वार्थी प्रेम में डूबी हुई उसकी अतृप्त आत्मा सच्चे मानवीय प्यार के लिए ललक उठती है।

नारी शिक्षा – पुत्र की तरह ही कन्या को भी शिक्षा दी जाती थी, परन्तु बालिकाओं की शिक्षा का पृथक् प्रबन्ध था। विद्या के अतिरिक्त उनको ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। शकुन्तला कविता करना जानती थी उसका दुष्यन्त को लिखा हुआ पत्र काव्यमय में दिखाई देता है। प्रसाधन कला अनुसुइया और प्रियंवदा दोनों जानती थी। मालविका नृत्यकला में कुशल थी। मालविका को शिल्प शिक्षा की अधिकारिणी कहा गया है। परिव्राजिका न केवल संगीत कला में कुशल थी, अपितु वैद्यकशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था।[२१] यक्ष–पत्नी का पति वियोग में चित्र बनाना वीणा पर गाना गाना आदि बातें हमें ललित कला सम्बन्धित शिक्षा का ज्ञान कराती है।

नारी कर्तव्य – शिक्षा के अतिरिक्त कन्या के कुछ कर्तव्य भी थे। उदाहरण के तौर पर शकुन्तला प्रतिदिन वृक्षों को सींचती थी। पशुओं का पालन–पोषण करती थी। जब शकुन्तला विदा होकर तपोवन से प्रस्थान करती है उस समय वृक्षों एवं पशु–पक्षियों की अवस्था का वर्णन भी कालिदास ने किया है। पार्वती पूजा के लिए पुष्प चुनती थी, वेदी को धोती थी, पोंछती थी, नित्य कर्म के लिए जल और कुश लाती थी।

कालिदास की रचनाओं से ज्ञात होता है कि कन्याओं को प्रत्येक प्रकार का कार्य सिखाया जाता था। शिष्टाचार उनका सबसे बड़ा कर्तव्य था। कादम्बरी के बाद कालिदास एवं भारवि में ही शिष्टाचार की इस कला का पूरा ज्ञान देख पाते हैं। शकुन्तला की सखियों का सत्कार, शिष्ट भाषण उनकी उच्च शिक्षा और संस्कृति को दर्शाता है। शिक्षा का आदर्श बालिकाओं को गृहिणी और माता बनाना था। कण्व का उपदेश इसका साक्षी है। उमा की शिक्षा के विषय में बताता हुआ कवि विभिन्न ज्ञान के विषय में बताता है जो उसे गत जीवन में स्वतः ही प्राप्त हो गये थे। शकुन्तला की शिक्षा उसकी उच्च संस्कृति की घोतक थी। मालविका और शकुन्तला का संयम, शिष्टाचार, सहनशीलता, हर्ष के कारण उद्वेलित न होना आदि उसकी वास्तविक शिक्षा की प्रतीक है। शकुन्तला का वृक्षलता और हरिणों से प्रेम, उसके हृदय की विशाल करुणा को अभिव्यक्त करता है कवि **'निसर्गनिपुणा स्त्रियः'** कहकर उसकी विद्वता और बुद्धिमता की प्रशंसा करता है।

निष्कर्ष – समाज में सदा से नारी का सम्मानित स्थान रहा है; क्योंकि नारी ने अपने सद्व्यवहार, त्याग, आचरण और निर्माण शक्ति में परिवार एवं समाज को प्रभावित कर सदा सन्मार्ग दिखलाया है। नारी सदा से मनुष्य के लिए प्रेरणा, सबल, पथदर्शिका, निर्मात्री और सुख का साधन रही है। अतः कालिदास ने अपने नाटकों में नारी की त्यागमयी वृतियों, निर्माणमयी प्रवृतियों ममतामयी भावनाओं और उसकी सौम्य तथा सौन्दर्यमयी कामनाओं का वर्णन किया है। नारी ने पुत्री, प्रेमिका, सखी, पत्नी, माँ बनकर अपने

करुणा, ममता, दया, स्नेह, त्याग और श्रद्धा से समाज का निर्माण किया है। महाकवि कालिदास, भास तथा शूद्रक के समय में समाज में नारी की सामाजिक स्थिति प्रायः समान थी – जैसे सती प्रथा, पर्दा प्रथा तथा सामाजिक व आर्थिक स्वतन्त्रता।

उस समय सती प्रथा तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन था और स्त्री को पुरुष के समान स्वतन्त्रता नही थी। उसे पिता, पति तथा पुत्र के अधीन रहना पड़ता था तथा वह धन नही कमा सकती थी। धन कमाने का कार्य पुरुष ही करते थे। नारी सृष्टि की निर्मात्री होने के कारण उसके योगदान के बिना समाज समृद्ध नही हो सकता, चाहे वह पश्चिम की हो अथवा पूर्व की। लेकिन आज बदलती परिस्थितियों के साथ सामान्य जन–जीवन में प्रचलित संस्कृतियाँ भी बदलती गई। सती प्रथा आज प्रायः समाप्त हो गई है, लेकिन पर्दा प्रथा आज की अनेक सथानों पर देखने को मिलती है। आधुनिक युग की स्त्री सामाजिक एवं आर्थिक रूप से भी स्वतन्त्र है। वह हर क्षेत्र में पुरुष के साथ कंधा से कंधा मिलाकर कार्य कर रही है।

सन्दर्भ-सूची

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.२२
२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५.१७
३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५.१४
४. उरुभंगम्, पृ. ३८
५. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क– ५
६. मृच्छकटिकम्, अङ्क– १०
७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.२०
८. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, २.८
९. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७.२२
१०. मध्यमव्यायोग, अङ्क– १
११. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क– ४
१२. मध्यमव्यायोग, १.८
१३. विक्रमोर्वशीयम्, ५.१२, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क– ६
१४. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क– ५
१५. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क– ५
१६. मालविकाग्निमित्रम्, अङ्क– ५
१७. मालविकाग्निमित्रम्।
१८. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.२७
१९. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २.२
२०. विक्रमोर्वशीयम्, अङ्क– २
२१. मालविकाग्निमित्रम्, ४.४

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

महाकवि कालिदास की अभिनव नाट्य कल्पना : 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के परिप्रेक्ष्य में

प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित*

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य परम्परा के समुज्ज्वल रत्न हैं। आर्य जाति की चरम विकसित संस्कृति का स्वरूप उनकी रचनाओं में सुरक्षित है। उनके विचार में मानव जीवन का उद्देश्य जरा-मरण रूप आवागमन से विमुक्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति है - '**ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भव परिगतशक्तिरात्मभूः।**' इसीलिए उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में लौकिक प्रेयस् के ऊपर पारलौकिक श्रेयस् का शाश्वत् सन्देश विश्व के समाज को दिया है।

कालिदास ने अपने युगीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा जातीय एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से अभियव्यक्त किया है। आज करीब दो हजार वर्षों के बाद भी उनकी सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति अभिज्ञानशाकुन्तलम् में समुन्नत भारत के गौरव एवं कला समृद्धि का अमृतवर्षी सौरभ, विश्व के सहृदय सामाजिक को सुवासित, अनुरंजित एवं अनुप्राणित कर रहा है।

महाकवि माघ का यह कथन कि "जो आस्वादन की ओर निरीक्षण के पश्चात् भी नवीन ही प्रतीत हो, सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप वही है।" यदि कालिदास की कविता को सामने रखकर परखा जाए, तो शत-प्रतिशत यथार्थ सिद्ध होता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' कालिदास की कल्पना रूपिणी उद्यान वाटिका की अमृतमयी पारिजात लता है। यह कालिदास का श्रेष्ठतम नाटक ही नहीं, प्रत्युत समग्र नाट्य मणिमाला का श्रेष्ठमणि है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग और पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। इस इतिवृत्त में उस पवित्र प्रेममूलक आख्यान का दिग्दर्शन किया गया है, जो तपस्या एवं साधना द्वारा वियोग की ज्वाला से विशुद्ध बनने वाले काम की प्रेम में परिणति का अभिराम चित्र उपस्थित करता है। कविकुलगुरु ने अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति से इसमें सम्यक् परिवर्तन कर इसको अत्यन्त रोचक एवं हृदयकारी बना दिया है।

नाटक का मूल कथानक कहाँ से लिया गया? इस विषय में सौभाग्य से अधिक वाद-विवाद को कोई स्थान प्राप्त नहीं। अनन्त कथारत्नों के सागर 'महाभारत' के आदिपर्व (अध्याय ६७ से ७४ तक) लगभग तीन सौ श्लोकों में वर्णित 'शाकुन्तलोपाख्यान' में शकुन्तला की कथा मिलती है, किन्तु कवि की उद्भाविनी प्रतिभा और सृजनमयी नवीन कल्पना ने महाभारत की उस पौराणिक, नीरस, आदर्शविहीन तथा शुष्क कथा को सरसता और गरिमा प्रदान की है, साथ ही महाभारत के साधारण चरित्रों को उदात्तता प्रदान कर उन्हें नाटकोपयोगी रूप दिया है। खान से निकले हुए टेढ़े-मेढ़े पत्थर को देखते ही उसमें एक अत्यन्त

* संस्कृत विभाग, वी.एस.एस.डी. कॉलेज, कानपुर (उ.प्र.)

रमणीय मूर्ति के निर्माण की कल्पना कर सकना अत्यन्त कठिन है, पर सामान्य व्यक्तियों के चर्म-चक्षुओं से जो दृष्टिगोचर नहीं होता, वह कलाकोविदों की प्रतिभा रूपी दिव्य दृष्टि के सम्मुख प्रकट हो ही जाता है। व्यास निर्मित नीरस कथा सामग्री से, अपनी प्रतिभा से निर्मित वैचित्र्यपूर्ण प्रसंग रखने से उत्कृष्ट रस परिपाक हो सकता है, यह कालिदास जैसे कला-कोविद् ही समझ सकने की सामर्थ्य रखते हैं, उनके जीवन का वास्तविक आदर्श यह है कि सांसारिक आसक्तियों का रसास्वादन करते हुए भी अन्ततः आसक्त रहना है और जरामरण के चक्र से मोक्ष पाने के लिए अपने जीवन को निरन्तर संयत एवं अनुशासित रखना है। उनके विचार से उपकार के द्वारा ही किसी के हृदय पर अधिकार हो सकता है। अपने जीवन के इस आदर्श की अभिव्यजञ्ना उन्होंने अपनी रचनाओं में की।

कालिदास नाट्यविद्या के पारंगत विद्वान् थे। उनके नाटक में भारत के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक गौरव का सजीव चित्र अंकित हुआ है। नाट्य की परम्परागत महती विभूति एवं जीवन की स्रोतस्विनी धारा के सम्बन्ध में उनकी बहुत बड़ी आस्था है। कालिदास भारतीय संस्कृति के उद्गाता थे। उन्होंने अपने नाट्य प्रयोग के माध्यम से आदर्श भारतीय समाज एवं संस्कृति को प्रचारित किया। सच्चे अर्थ में उनका 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक नाना भावोपसम्पन्ना, नानावस्थान्तरात्मक और शुभाशुभ विकल्पक तीनों लोकों का भावानुकीर्तन स्वरूप है।

महाभारत की कथा अत्यन्त प्राचीन थी। उसमें वर्णित विचार तत्कालीन समाज को अनुचित न प्रतीत होते होंगे, किन्तु शायद कालिदास के सुसंस्कृत समाज को उचित न लगते। अतः इस ऐतिहासिक कथानक को ऐतिहासिक रूप में न लेकर नाट्यरूप में समन्वित करने की योजना कालिदास ही कर सकते थे। नाटक में जीवन का सरस चित्रण होता है। उसमें ऐसी घटनाओं, प्रसंगों का समावेश होता है, जो हृदय स्पर्शी हो, जिनसे विविध रसों का अनुभव हो। ऐतिहासिक इतिवृत्त मात्र से ही रसों का अनुभव नहीं कराया जा सकता। अतः प्राचीन कथानक को नवीन रूप में परिणत करने में कहीं घटनाओं का संकोच करना पड़ता है, कहीं विस्तार, किन्तु इस संकोच, विस्तार के परिवर्तन में कवि को यह ध्यान में रखना पड़ता है, कि मूल कथा का ऐतिहासिक तत्त्व तिरोहित न होने पाए। एक साधारण आख्यान को इतना अधिक रोचक बना देना कालिदास का ही कला कौशल है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथावस्तु में चरित्र चित्रण की सुषमा बनाए रखने के लिए अनेक परिवर्तन किए हैं।

कालिदास ने महाभारत के राजा दुष्यन्त की प्रणय व्यापार सम्बन्धी कामवासना से पूर्ण कथा को पूर्णरूपेण परिवर्तित एवं परिवर्धित कर नए परिवेश एवं नए पात्रों की सृष्टि कर अपनी नाट्य रचना के उद्देश्य के अनुकूल बनाया। दुष्यन्त, शकुन्तला, सर्वदमन और कण्व ऋषि मात्र महाभारत के इन चार पात्रों से नाटकीय कार्य-व्यापार का संचालन संभव नहीं था। अतः कालिदास ने नायिका शकुन्तला की दो विश्वस्त सखियों अनुसूया एवं प्रियंवदा, कण्व के दो शिष्यों शार्ङ्गरव और शारद्वत आश्रम की अधीक्षिका गौतमी, माधव्य (विदूषक) सारथी, भद्रसेन (सेनापति), वैखानस (तपस्वी, शिष्य) मारीच, रैवतक (द्वारपाल), करभक, श्याल (नगर रक्षक), धीवर, मालव, सूचक, जानुक (दो सिपाही), सानुमती दुर्वासा, दो तापसी, परभृतिका, मधुकरिका और चतुरिका (दुष्यन्त) की दासियाँ आदि हर क्षेत्र के विविध पात्रों की सृष्टि की है। दुर्वासा के शाप के परिणाम स्वरूप उन्हें नाटक के षष्ठ एवं सप्तम् अंक में नवीन घटना का विन्यास करना पड़ा है। मूलकथा में इस घटना का कोई अस्तित्व नहीं है। यह कालिदास के वस्तु

विन्यास में महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के द्वारा वे दुश्यन्त एवं शकुन्तला के पार्थिव प्रेम को स्वर्गीय प्रेम में परिणत करने में सफल हुए हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् का कथानक काम और धर्म, वासना और कर्त्तव्य इन दो विरोधी मानस प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष पर आधारित है। इसके प्रथम तीन अंकों में काम की प्रमुखता है, तथा बाद के अंकों में धर्म की विजय है। वासना के वशीभूत राजा का पतन होता है, किन्तु कर्त्तव्य की ओर अग्रसर होने पर उनका चरम उत्थान होता है। इस तरह कहा जा सकता है कि यह नाटक **''धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि''** का सजीव साहित्यक स्वरूप है। इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी अपूर्व संकेत किया गया है।

कालिदास का प्रमुख उद्देश्य वासनाजन्य प्रेम को त्याग और तपस्या द्वारा सच्चे ईश्वरीय प्रेम में परिणति करना है। उन्होंने पृथ्वी का इस कलात्मकता से स्वर्ग से मिलन कराया है कि दोनों की सीमा का मेल मालूम नही पड़ता है। इस नाटक की कथावस्तु में विविद्य घटनाओं की योजना इस कुशलता से की गई है कि छोटी से छोटी घटना भी मूल कथानक एवं उसके उद्देश्य से जुड़ी हुई है।

प्रथम अङ्क में महर्षि कण्व की अनुपस्थिति ही दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय तथा गान्धर्व विवाह का मूल कारण बन जाती है। महाकवि ने अपनी कथा कुशलता का परिचय देते हुए, कण्व को फल मूल लेने के लिए न भेजकर सोमतीर्थ में विशेष अनुष्ठान के लिए भेजा। सोमतीर्थ कुछ दिनों के मार्ग की दूरी पर रहा होगा। मुनि शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमन के लिए दूसरे तीर्थ पर गए, तो इससे कार्य की गुरुता का अनुमान किया जा सकता है। यदि कोई साधारण उपाय होता, तो वे अपने आश्रम में ही कर सकते थे; क्योंकि कवि उन्हें सिद्धिमान् बतलाता है – **'स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः।'**[१] इसलिए यह मानना होगा कि स्थिति की गम्भीरता के कारण उन्होंने विशेष स्थान पर दीर्घकाल – साध्य अनुष्ठान करने की ही योजना बनाई, पर उनकी यह योजना और दीर्घकालीन अनुपस्थिति ने घटना चक्र को पनपने के लिए पर्याप्त अवसर दे दिया। तृतीय अङ्क को पढ़ने से पता लगता है कि शकुन्तला एवं दुष्यन्त के पूर्वराग के परिपक्व होने में कई दिन लगे थे। प्रियंवदा राजा को खोया-खोया सा बताते हुए में कहती है। **'ननु स राजर्षिरितस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते।'**[२] इससे लगता है कि विदूषक के साथ वार्तालाप और शकुन्तला के प्रथम दर्शन के मध्य भी दो-तीन दिन का अन्तर हो गया होगा और तब से लेकर समागम वाले दिन तक भी एक आध सप्ताह बीत ही गया होगा। पाँचवें अङ्क में भी शकुन्तला अभिज्ञान रूप में मृग वाली जो घटना सुनाती है, उस प्रसंग में **'एकस्मिन् दिवसे'** का प्रयोग है, जो बतलाता है कि प्रथम मिलन के पश्चात् भी दुष्यन्त कई दिन तक आश्रम में रहा। इस लम्बी अवधि में शकुन्तला का गर्भवती होना, राजा का शीघ्र बुलाने का वायदा करके नगर को लौटना, दुर्वासा का शाप आदि सभी बातें सम्भव हैं। मूलकथा में इन रमणीय, सुसंगत और स्वाभाविक घटनाओं का कहीं नामोनिशान नहीं है।

महाभारत के अनुसार तीन वर्षों के बाद शकुन्तला को पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह बिल्कुल अस्वाभाविक तथा मानव प्रकृति के विपरीत है। कालिदास ने इसे मानवोचित बनाने के लिए राजा द्वारा अस्वीकार कर देने पर उसे दैवी शक्ति के द्वारा मारीचि के आश्रम में भेजा। वहीं पर वह यथा-समय सर्वदमन को जन्म देती है। मारीच ऋषि उसका जात-संस्कार अपने हाथों से सम्पन्न करते हैं। ऐसा करने से दुष्यन्त को अपने पुत्र सर्वदमन तथा शकुन्तला से मिलन कराने में कवि को सहज सफलता मिली है। साथ ही यह कन्या की

मर्यादा के अनुकूल है। वहाँ अपनी तपस्या के फल के रूप में शकुन्तला का पश्चाताप के फलस्वरूप आत्मज्ञान प्राप्त अपने पति दुष्यन्त से मिलन होता है। जहाँ इनका पूर्व मिलन पार्थिव तथा वासनात्मक था, वहाँ यह उत्तर मिलन आध्यात्मिक एवं स्वर्गीय है। पश्चाताप और तपस्या की ज्वाला में क्षुद्रवासना तथा अज्ञान, भस्मसात् हो गया तथा अब वे दोनों निर्विकार एवं निर्मल हो गए हैं। मिलन की इस चमत्कारपूर्ण नूतन कल्पना पर ही मुग्ध होकर जर्मन कवि 'गेटे' ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की हार्दिक प्रशंसा की है।

"Wouldst thou the earth and heaven itself in one name combine? I name the, O Shakuntala and all at once is said"[3]

महाभारत में कण्व ऋषि शकुन्तला को पतिगृह भेजते समय थोड़ा सा गतिशील एवं दुःखी दिखाई देते हैं। लेकिन कालिदास ने शकुन्तला की विदाई-वेला का ऐसा कारुणिक दृश्य उपस्थित किया है, जो विवाह के बाद भारतीय कन्या की विदाई के अवसर पर सजीव चित्र है। इसी के आधार पर उन्होंने चतुर्थ अङ्क की आधारशिला रखी है। इस अङ्क के प्रथम दृश्य में पति वियोग की चिन्ता में डूबी शकुन्तला ने ऋषि दुर्वासा का आतिथ्य सत्कार नहीं किया, अतिथि सेवाधर्म में प्रमाद के कारण दुर्वासा शकुन्तला को शाप देकर चले जाते हैं। प्रियंवदा की अनुनय-विनय पर वे पहचान के आभूषण को दिखलाने पर शाप समाप्ति की बात कहते हैं।

यह शाप योजना कालिदास की मौलिक प्रतिभा की उपज है। इस शाप और अंगुलीयक के ऊपर ही सम्पूर्ण नाटक का उद्देश्य का प्रारम्भ शिष्यों के प्रभात वर्णन से होता है -

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना
-माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोकोनियम्मत इवात्मदशान्तरेषु।।[४]

अपि च

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।।[५]

इसमें किसी रहस्यमय घटना के घटित होने का संकेत मिलता है। सूर्य और चन्द्रमा के एक साथ उदय-अस्त के द्वारा मानो सांसारियों का भाग्यचक्र नियंत्रित हो रहा है। इससे विदित होता है कि जीवन का प्रणय निरा आनन्दमय में ही नहीं यही दृश्य आगे शकुन्तला में परिणत हो जाता है। पं. चन्द्रशेखर पाण्डेय के शब्दों में "शकुन्तला के प्रयाण का यह दृश्य अपने कवित्वमय वर्णन में, कन्या के गमन पर पितृ हृदय की भावनाओं के चित्रण में तथा सामाजिक एवं नैतिक आदर्शों के निरूपण में अनुपम है। कण्व की व्यग्रता, अनुसूया और प्रियंवदा की आनन्द में परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम संदेश और भावी गृहलक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता में विविध भाव और घटनाएँ, ये सब ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुए हैं कि प्रतीत होता है कि यह मानों शब्द-निर्मित मानव-हृदय हो।"

समीक्षात्मक अनुशीलन के बाद यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक, सामाजिक, लोकाचार तथा काव्य की दृष्टि से चतुर्थ अंक सर्वाधिक प्रशस्त एवं रमणीय और कालिदास का सर्वस्व है।

कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कको यत्र याति शकुन्तला।।[६]

वस्तुतः इस अङ्क में भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की विषमताओं को हटाकर संतुलन और सामंजस्य को उपस्थित किया गया है।

नाटक के पंचम अङ्क में यही भावना हंसपदिका के गीत से अधिक तीव्रतर हो जाती है –

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्।।[७]

यह करुण–गीत आगे के क्रूर काण्ड की पृष्ठभूमि का है। शकुन्तला का प्रत्याख्यान, शकुन्तला के करुण प्रयास जो प्रिय को प्रणय की स्मृति दिलाने के लिए किए गए। राजा का राजोचित निष्ठुर व्यवहार, शारद्वत के प्रतिक्रिया स्वरूप उत्तेजनात्मक शब्द, शकुन्तला की निस्सहायता और लोप ये सभी तत्त्व अत्यन्त नाटकीय हैं। नाटक के पूर्व अङ्कों में शकुन्तला के जिस रूप को देखकर राजा ने कामुक की भाँति आचरण किया, अतिथि धर्म का अपमान कर डाला था। ऋषि के शाप देने के भय को भी कुछ नहीं समझा था, वही शकुन्तला राजसभा के सामने आकर कहती है कि "मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, ग्रहण करो। लेकिन आज वह विस्मृति के कारण राजधर्म से एक पग भर विचलित नहीं होता। शाप ने मानों राजा की चंचल रागात्मिका वृत्ति को समाप्त कर धर्मनिष्ठ एवं राजधर्म सम्पन्न बना दिया। उसके सामने एक तरफ अलौकिक रूप है, मुनियों का क्रोध है, नारी की अनुपम विनय है, तो दूसरी ओर राजधर्म का भय है। नाटक के इस दृश्य में, एक मोहक कलात्मक सौन्दर्य है, उल्लास है।

महाभारत के कलङ्कित दुष्यन्त के चरित्र को ऊँचा उठाकर गरिमा से मण्डित करना मात्र कालिदास द्वारा नियोजित दुर्वासा के शाप का प्रयोजन नहीं, अपितु इस नाटक में इससे भी गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण उद्देश्य पार्थिव रागात्मक प्रेम को शिवात्मक आध्यात्मिक प्रेम में विकसित करना है। इस उद्देश्य की पूर्णरूपेण सिद्धि के लिए नायक एवं नायिका दोनों का संताप की ज्वाला में दग्ध होना अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में इस भौतिक अवयवों के लिए उत्पन्न रागात्मक प्रेम को विशुद्ध नही बनाया जा सकता। एतदर्थ कालिदास ने पति दुष्यन्त द्वारा पतित्यक्ता शकुन्तला को पुनः उस कण्व के आश्रम में न ले जाकर, उस दुःखिनी के विशाल दुःख के उपयुक्त, विरल, नीरव एवं प्रशान्त अपरिचित महर्षि मारीच के तपोवन में पहुँचा दिया और मौन साध लिया। चूँकि उसकी पूर्व स्थिति वनभूमि से पहले की भाँति अब मिलन सम्भव नहीं था। कण्वाश्रम से पतिग्रह के लिए विदाई के समय तपोवन से उसके बाहरी सम्बन्ध का ही विच्छेद हुआ था, किन्तु दुष्यन्त द्वारा राजमहल से बाहर निकाल देने पर उसका पूर्ण विच्छेद हो गया। मारीच के तपोवन में शकुन्तला ध्यानावस्थित होकर तप साधना में लीन हो जाती है। इस समय दुष्यन्त अभिज्ञान मुद्रिका के दर्शन के बाद अभिज्ञात होकर पश्चाताप से दग्ध हो रहा है। यह पश्चाताप ही उसकी तपस्या है। पश्चातापपूर्वक शकुन्तला की प्राप्ति में ही शकुन्तला का गौरव है। इसीलिए कालिदास ने यौवन के आकस्मिक आवेश में हुए संयोग के बदले यथार्थ चिन्तन भाव ये परस्पर प्राप्ति के लिए दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को दीर्घ दुःसह ताप और तपस्या में प्रवृत्त कर दिया। यदि राजसभा में आते ही दुष्यन्त

शकुन्तला को अङ्गीकार कर लेते, तो वह भी अन्य प्रेमिकाओं की तरह राजमहल के किसी एक भाग में स्थान पाकर जीवन व्यतीत करती तथा दुष्यन्त भी कामुक नायक बन कर रह जाता। दुर्वासा के शाप के फल स्वरूप दुष्यन्त एवं शकुन्तला दोनों का वियोग कराकर और पुनः तप साधना के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्ति के बाद पति-पत्नी के बीच का योजक पुत्र सर्वदमन के माध्यम से अनुपम मिलन कराकर नाटककार ने अपने असामान्य कवित्व का परिचय दिया है। कवि ने दोनों के बाह्य मिलन को कण्टकाकीर्ण मार्ग में ले जाकर आभ्यन्तरिक मिलन से सार्थक कर दिया।

इस प्रकार के आध्यात्मिक मिलन से लोक कल्याण के प्रेम की स्थापना में 'कवि को असाधारण सफलता मिली है, उन्होंने दोनों के पापकर्म को अपने-अपने हृदय के भीतर अपनी ही आग से जलाकर राख कर दिया। समस्त अमंगलों का विनाश कर नाटक की परिसमाप्ति हुई है।

इन घटनाओं के सन्निवेश से कुशल नाटककार ने महाभारत के आदिपर्व से शकुन्तलोपाख्यान की कथा को लेकर उसे कलात्मक साँचें में ढाल दिया है कि शाकुन्तल ऐसी मोहक सृष्टि, नूतन सौन्दर्य की मोहक राशि समेटे हुए उपस्थित हुई, जिसे देख सुन और पढ़ सहृदयजन आश्चर्य चकित, भावविभोर और ठगा सा रह जाता है। कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुसार "शकुन्तला के आरम्भ में तरुण सौन्दर्य ने, मंगलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है।"

सन्दर्भ-सूची

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क- ५
२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क- ३
३. जर्मन कवि गेटे।
४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क- ४.२
५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क- ४.३
६. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन।
७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क- ५.१

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में राज्य के स्वरूप में सप्त प्रकृतियों की अवधारणा में अमात्य की भूमिका

प्रो. ज्योति देवल*

शोध सारांश– संस्कृत भाषा में रचित कौटिल्यकृत ग्रन्थ अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राज्यों के स्वरूप निर्धारण में राजनीतिक एवं शासन व्यवस्था के राज्य प्रबन्धन विषयक से संबधित एक प्राथमिक स्रोत है। इसमें आचार्य कौटिल्य ने जीवन के लिए अनिवार्य अर्थ– अर्थात् मनुष्य की जीवनोपयोगी अर्थयुक्त भूमि से उत्पन्न धन को अर्थ कहा है। भूमि भी खननोत्खननादि विभिन्न वृत्तियों द्वारा मनुष्य के भरण–पोषण के लिए कृषि उपयोगी व महत्त्वपूर्ण साधन है। मनुष्य श्रम द्वारा इससे अपनी जीविका ग्रहण करता है। अतः कौटिल्य को इसी प्रकार के कर्मशील मनुष्य से युक्तभूमि से अभिप्राय है। जिसकी प्राप्ति एवं रक्षणादि से सम्बद्ध उपायों को कौटिल्य ने जिस ग्रन्थ में निबद्ध किया है। वह अर्थशास्त्र कहलाता है। इसमें राज्य के संचालन, पालन, रक्षण, संवर्धन से सम्बद्ध नीतियों का प्रतिपादन सप्त प्रकृतियों से किया गया। भारत के प्राचीन राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सप्ताङ्ग राज्य की कल्पना की है। कौटिल्य ने शासनतंत्र के रूप में केन्द्रीयकृत राजतंत्रात्मक स्वरूप की व्याख्या सप्त प्रकृतियों से की है, जिसमें शासन की सत्ता का निर्धारण अन्तिम रूप से राजा ही करता था। प्रत्येक राज्य की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धर्मिक, आर्थिक, औद्योगिक स्थिति आदि अलग–अलग होती है। अतः स्वाभाविक है कि एक ऐसे तंत्र की आवश्यकता होगी, जो संबंधित राज्य की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। 'अर्थशास्त्र' में आचार्य कौटिल्य की दूरदर्शिता एवं विषय व्यापकता के साथ यह एक सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक रचना है। सप्त प्रकृतियाँ ही राज्य के स्वरूप व विधान का निर्माण करती है और विधान ही समाज की आत्मा एवं आईना है। समाज की संरचना और राजनैतिक शासन के रूप–रंग की जानकारी भी इन सप्त प्रकृतियों में राजा के समकक्ष उच्च स्तरीय अधिकारी अमात्य की महती भूमिका होती है। यह धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि को समेटे हुए राज्य के स्वरूप निर्धारण की वह अवधारणा है, जो साम्राज्य के प्रशासन व नागरिकों के जीवन को न केवल नियंत्रित एवं संचालित करती है वरन् उसके सर्वाङ्गीण एवं समुचित विकास के लिए मार्ग भी प्रशस्त करता है। कौटिल्य की राज्य व्यवस्था में प्रजा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, उनके अनुसार प्रजा के सुख में ही राजा का सुख था। सप्त प्रकृतियों में अमात्य ही आम नागरिक के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा करने में राज्य के अनुरूप सक्षम था और राजा राज्य व प्रजा के कल्याण के लिए अमात्य ही राजा की नीति को आधार बनाकर प्रजा से उनके कर्तव्यों की अनुपालन करवाते थे। अतः राष्ट्र का चहुँमुखी विकास राजा व अमात्य द्वारा राज्य की सुरक्षार्थ निर्धारित नीति में राज्य के प्रजातांत्रिक गतिमान विधान में अन्तर्निहित रहा, जिसमें राज्य एक

* राजनीति विज्ञान विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान

जनहित संवर्धक संस्था बनी रही।

सांकेतिक बिन्दु : कौटिल्य, अर्थशास्त्र, राज्य, शासनतंत्र, सप्तप्रकृतियाँ, अमात्य आदि।

उद्देश्य

१. अवधारणा तथा मान्यताओं में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना।

२.कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में राज्य के प्रशासन में अमात्य की भूमिका के महत्त्व को प्रतिपादित करना।

शोध प्रविधि– विश्लेषणात्मक–तुलनात्मक पद्धति द्वारा प्राथमिक और द्वितीयक दस्तावेजों की समीक्षा करना, विषय संबंधित डेटा का व्यवस्थित संग्रह कर वस्तुनिष्ठ मूल्याङ्कन करना।

परिकल्पना– कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में राज्य के स्वरूप में सप्त प्रकृतियों की अवधारणा में सात बुनियादी प्रकृतियों या घटकों में से प्रत्येक को आदर्श विशेषताओं द्वारा वर्णित किया गया। प्रशासनिक व्यवस्था में अमात्य पद सभी उच्च प्रशासनिक अधिकारियों, राजा के सलाहकारों और विभागीय कार्यकारी प्रमुख के लिए सामूहिक संज्ञा के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। अमात्य के लिए राजनीति का ज्ञाता होने पर बल दिया गया, राज्य के मूलस्वरूप का निर्धारण व व्यवस्था का निरूपण राजा और अमात्य की महती भूमिका रही।

प्राचीन भारतीय राजनीति का मूल स्रोत वैदिक संहिताएँ है।[१] प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रामाणिक, सर्वोत्कृष्ट व वैज्ञानिक ग्रन्थ आचार्य कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र है। प्राचीन भारत में राजा और राज्य दोनों की उत्पत्ति के सिद्धांत एक ही थे। उस समय राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों विषयों का प्रचलन था। यद्यपि कौटिल्य ने राजनीतिशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष के विषय का ही विस्तृत उल्लेख किया है। राजा का धर्म प्रजा के मूल अधिकारों की रक्षा करना और प्रजा का धर्म है– राजभक्ति और कर्तव्य परायणता। राजाज्ञा की अवहेलना करना अपराध माना जाता था। ऋग्वेद में राजा को इन्द्र और वरुण कहा गया है।[३] यजुर्वेद में सम्राट को इन्द्र और राजा को वरुण माना गया है।[४] एक–दूसरे स्थल पर राजा को ब्रह्म, सूर्य, वरुण, इन्द्र, व रुद्र मानकर उससे रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है। वाल्मीकि रामायण में भी राजा को देवता कहा गया है, जो मानव शरीर धारणकर इस भूमण्डल पर विचरण करता है। इसलिए उसकी हिंसा, निंदा एवं तिरस्कार नहीं करना चाहिए और सदैव उसके अनुकूल बोलना चाहिए।[५] यही नहीं राजा से यम, कुबेर, इन्द्र और वरुण देवता भी छोटे हैं।[६] विष्णुपुराण में राजा को सर्व देवमय कहा गया है, क्योंकि उसके शरीर में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, सूर्य, वरुण, पूषा, पृथ्वी और चन्द्र तथा अन्य शान्त एवं कृपा करने वाले देवताओं का निवास रहता है।[७] बृहस्पतिस्मृति के अनुसार सोम, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर और यम के तेजमय अंशों से राजा का निर्माण हुआ है।[८]

महाभारत के शांतिपर्व में भी राजा और राज्य की उत्पत्ति की चर्चा की गयी है। प्रभु नारायण ने एक मानसपुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम विरजस था।[९] भगवान् विष्णु अपनी योगमाया से स्वयं राजा पृथु के शरीर में प्रविष्ट होकर संसार में राजा के रूप में पूजे जाने लगे।[१०] उसी अध्याय में राजाओं और देवताओं को एक समान कहा गया है।[११] यही नहीं, राजा इन्द्र यम तथा धर्म है। वह विभिन्न रूप धारण करता है और उसी पर यह संसार आधारित है।[१२] शुक्रनीति में भी इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ देवताओं के अंशों से राजा का निर्माण बताया गया है।[१३] अथर्ववेद में इस प्रकार वर्णन किया गया है कि

'मानव समाज और उसकी संस्थाएँ क्रमिक विकास का प्रतिफल है।'[१४]

ऋग्वेद से भी यह ज्ञात होता है कि आर्य समाज कुटुंब, जन्मन्, विश और जन में विभाजित था।[१५] जन्मन् संभवतः एक ही पूर्वज के वंशजों का ग्राम था। इस प्रकार अनेक ग्रामों का समूह 'विश' और उसका प्रधान 'विशपति' कहा जाता था। अनेक विशों के योग से 'जन' बनता था जिसके नेता को जनपति या राजा कहा जाता था और धीरे-धीरे राज्य की प्रकृति का स्वरूप निर्धारित होने लगे।[१६]

कौटिल्य द्वारा प्रणीत राज्योत्पत्ति का सिद्धान्त- राज्योत्पत्ति के पूर्व समाज में एक मत्स्य-न्याय युक्त प्राकृतिक अवस्था थी।[१७] मत्स्य-न्याय की स्थिति से मुक्ति पाने के लिये एक बलवान व्यक्ति को राजा चुना गया। प्रजा ने राजा को कर देना निर्धरित किया और इसके बदले में राजा ने प्रजा के कष्टों को दूर करके प्रजा-हित में कार्य करने का वायदा किया।[१८] आचार्य कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त प्राकृतिक अवस्था की पुष्टि अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों-मनुस्मृति[१९] तथा महाभारत[२०] आदि से भी होती है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक दशा विषयक अन्य उद्धरण भी महाभारत में मिलते हैं।[२१] कौटिल्य अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इसके उपरान्त राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का उदय हुआ और प्रजा ने मनु को अपना राजा बनाया।[२२] परिणाम स्वरूप राजा को धन का छठाभाग, व्यापार और सुवर्ण को दसवां भाग कर के रूप में देना निर्धारित किया[२३] और साथ ही राजा को प्रजा के कल्याण के उत्तरदायित्व की शर्त भी रखी।[२४] अतः इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रजा के अधिकारों की रक्षार्थ ही प्रजा ने कर देना स्वीकार किया था; क्योंकि यह उत्तरदायित्व ही राजा की निरंकुशता पर अंकुश था। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति राजा पर केन्द्रित थी और राज्य को मानव जीवन की कल्याणकारी शक्ति माना गया।

कौटिल्य की राज्य व्यवस्था में जनता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उनके अनुसार प्रजा के सुख में ही राजा का सुख था। इसके हित में राजा का हित था। उसका अपना कोई प्रिय कार्य एवं हित नहीं था। प्रजा का प्रिय कार्य और हित ही उसका भी हित था।[२५] बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि वास्तव में राजा-प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठवां भाग जो राजा कर के रूप मे लेता है, वह उसका वेतन होता।[२६] शुक्रनीति में भी यह भी उल्लेख है कि 'ब्रह्मा ने भृत्ति के रूप में अपना भाग पाने वाले राजा को प्रजा के सेवक और उसकी रक्षा हेतु स्वामी के रूप में कार्य करने के लिए बनाया है।[२७] महाभारत के शान्तिपर्व में कर सम्बन्धी वर्णन से ज्ञात होता है कि राजा पर कर प्रजा-हित की शर्त थीं, साथ ही उस पर धर्म का भी बन्धन था।[२८]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने व अपराधों पर नियंत्रण के लिए दण्ड विधान का भी उल्लेख किया गया है।[२९] दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ, काम में प्रवृत्त करता है।[३०] महाभारत के अनुसार यदि संसार में दण्ड न रहे, तो सारी प्रजा का नाश हो जाएगा। बलवान दुर्बलों को निगल जायेंगे।[३१] मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है। दण्ड ही पुरुष है। दण्ड ही नेता है। दण्ड ही शासनकर्ता और चारों आश्रमों का रक्षक है। दण्ड ही शासन करता है। दण्ड ही सबकी रक्षा करता है। सभी के सो जाने पर दण्ड ही जागता है, इसलिए विद्वानों ने दण्ड को धर्म कहा है।[३२] कौटिल्य का उद्देश्य एक ऐसे विराट् साम्राज्य की स्थापना करना था, जिसकी केन्द्रीय कृत राजतंत्रात्मक निरंकुश शासन-सत्ता में राजा की सर्वोपरिता का समर्थन करने के साथ ही प्रजातांत्रिक मौलिक अधिकारों की रक्षार्थ प्रजा के साथ उदारता पूर्ण नीति का समायोजन भी हो।[३३]

राजशास्त्रियों के अनुसार सप्ताङ्ग[३४] सिद्धान्तों में राज्य का स्वामी–राजा, केन्द्रीय और प्रांतीय प्रशासनिक मंत्री–अमात्य, राज्य की प्रशासनिक इकाइयाँ जनपद, पुर–दुर्ग, कोश, दण्ड– शक्ति या बल और मित्र। कौटिल्य अर्थशास्त्र में राज्य के सप्ताङ्गों को सात 'प्रकृतियों' के रूप में निरूपित कर उनके गुणों को विस्तार से वर्णित किया है– 'स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र'।[३५] कौटिल्य ने राजा की सर्वोपरिता में उसकी बुद्धिमता, शीलता, कल्याणकारिता, प्रजावत्सलता और प्रजा का रंजन करने वाली कूटनीतिक प्रकृतियों से युक्त राजा ही उत्तम व सर्वश्रेष्ठ होता है। कौटिल्य का मनतव्य था कि यदि इन प्रकृतियों में से किसी प्रकृति का एक अवयव व्यसनग्रस्त या प्रमादी होता है, तो उस स्थिति में अन्य प्रकृतियों के उन अवयवों से कार्य लिया जाना चाहिए, जो व्यसनग्रस्त या प्रमादी न हो, अर्थात् जिनमें अभी सार विद्यमान है तथा जिनका अनुराग अभी कायम हो।[३६] राज्य के सभी अङ्ग स्वस्थ रहने चाहिए, यदि दो प्रकृतियाँ एक साथ व्यसनग्रस्त हो जाएँ और उनके गुणों में क्षीणता आ जाए, किन्तु बाकी पाँचों प्रकृतियाँ सद्गुणों से युक्त हो, तो चिन्ता की कोई बात नहीं होती; क्योंकि एक प्रकृति के व्यसन से अन्य प्रकृतियों का नाश तभी सम्भव है, जब उस एक प्रकृति का व्यसन अत्यन्त गम्भीर हो, फिर चाहे वह प्रकृति प्रधान हो या अप्रधान।[३७] कौटिल्य ने राजा और राज्य दो प्रकृति को ही महत्त्व दिया।[३८]

राज्य के संचालन और प्रशासन की व्यवस्था के लिए बुद्धिमान्, कुलीन और कर्त्तव्यपारायण मंत्रियों की नियुक्ति करना अनिवार्य होता है और राजा उनके परामर्श से ही राज्य को प्रशासित और अनुशासित करता है। मंत्रियों में अमात्य का स्थान प्रमुख होता था। राज्य का सर्वोच्च पद राजा सामर्थ्य और शुचिता के संबंध से पूर्ण रूप से परिचित व्यक्ति को ही नियुक्त करता था। राजा गुणी, ईमानदार, कर्मठ, नीति ज्ञाता, राजा का रक्षक, प्रतिकूल परिथतियों को भी अनुकूल बना ले साथ ही बुद्धि, शौर्य, शुचिता और अनुराग आदि गुणों को देखकर ही अमात्य की नियुक्ति नहीं होनी चाहिए, बल्कि कार्य, देश और काल को दृष्टि में रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को ही अमात्य पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए, जो कि कार्य को सम्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हों और तत्पश्चात् उनमें कार्य–सामर्थ्य के अनुसार पदों का विभाजन किया जाना चाहिए।[३९]

राजा के प्रमुख कायों में प्रजारंजन, प्रजापालन और प्रजारक्षण का होता था। राजा अमात्य की सहायता से ही उपलब्धि की प्राप्ति, प्राप्ति की रक्षा, रक्षित की वृद्धि का योग्य पात्रों में वितरण करता था।[४०] कौटिल्य अर्थशास्त्र में अमात्य के गुणों का वर्णन करते हुए उल्लेख करते हैं कि उपकार, अनुग्रह और अपकार, निग्रह द्वारा दण्ड का प्रयोक्ता होना चाहिए, विपत्तियों के निवारण में समर्थ होना चाहिए, दूरदर्शी व कुटनीतिज्ञ होना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, जिद्द, चपलता आदि विषयों से रहित होना चाहिए। राजपदाधिकारियों और राजकर्मचारियों को 'अमात्य' कहा जाता था। वे भी राज्य संस्था के महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। अतः यह स्पष्ट है कि भली–भाँति परखने के बाद ही किसी व्यक्ति को अमात्य व मन्त्री के पदों पर नियुक्त करना उपयुक्त समझा जाता था।[४१] मनुस्मृति के अनुसार भी राज्यसंस्था के लिए अमात्यों का बहुत महत्त्व था, उनके अनुसार अमात्य शुचि, प्रज्ञावान और सुपरिक्षित हों।[४२] शुक्रनीतिसार अमात्य उच्चकुल का हो, गुणी हो, शील से सम्पन्न हो, शूर हो, राजा के प्रति भक्ति रखता हो, प्रिय भाषण करने वाला हो, हितकर बात को उपदिष्ट करने वाला हो, क्लेश सहने की क्षमता रखने वाला हो और धर्माचरण में रत हो और यदि राजा कुमार्ग पर चलने लगे, तो अपनी बुद्धि द्वारा उसे सन्मार्ग पर लाने की क्षमता भी

रखता हो। उनका आचरण पवित्र होना चाहिए। साथ ही, उनके लिए ईष्या–द्वेष से रहित होना, काम, क्रोध तथा लोभ से हीन होना और आलसी न होना भी आवश्यक है।[४३]

कौटिल्य की दृष्टि में अमात्यों का राज्यसंस्था में बहुत महत्त्व था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सब कार्यों के मूल अमात्य ही होते थे; क्योंकि जनपद की कर्मसिद्धि अपना और दूसरों का योगक्षेम साधन, विपत्तियों का प्रतीकार, खाली पड़ी हुई भूमि को बसाना और उसकी उन्नति करना, सेना का संगठन, करों को एकत्र करना और अनुग्रह प्रदर्शित करना आदि सभी कार्य अमात्य द्वारा ही अवश्य सम्पन्न किए जाते थे, किन्तु कौटिल्य की दृष्टि में उनका महत्त्व राजा से अधिक नहीं था।[४४]

वर्तमान समय के राजशास्त्री राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सरकार (Government) को उसका एक आवश्यक तत्त्व मानते हैं; क्योंकि सरकार द्वारा ही राज्य की प्रभुत्व शक्ति को क्रियान्वित किया जाता है, जिसे आधुनिक विचारक प्रभुत्व शक्ति (Sovereignty) कहते हैं। उसे ही भारत के प्राचीन राजशास्त्री 'दण्ड' कहते थे। दण्ड का प्रयोग राजा के अधीन होता था और राजा इसे अमात्य वर्ग की सहायता से उसे प्रयोग करता था। इसलिए प्राचीन नीतिकारों ने अमात्यों को शीलगुण सम्पन्न होना आवश्यक बताया है। अर्थशास्त्र के अनुसार दण्ड का अधिकार अमात्य को था[४५] जबकि वर्तमान में भारतीय संविधान के अनुसार यह अधिकार न्यायालयों को सौप दिया है।

निष्कर्षतः कौटिल्य के अनुसार राजा एवं राज्य अन्योन्याश्रित हैं। कौटिल्य उल्लेख करते हैं कि राज्य मानव समूह से मिलकर बनता है और मानव से रहित जनपद राज्य नहीं होता है। आचार्य कौटिल्य ने राज्य की प्रकृतियों को राज्य का अवयव कहा है। आचार्य कौटिल्य ने सचिव व अमात्य शब्द समानार्थिक रूप में प्रयोग किया है। अमात्य व मंत्रियों में विभेद करते हुए वर्णित करते हैं कि अमात्य की नियुक्ति के लिए धर्म, अर्थ एवं काम भय के बराबर अवसर में प्रलोभन आदि से परीक्षा लेने का परामर्श दिया है, किन्तु मंत्रियों के लिए सत्यता तथा विश्वास पात्रता की जाँच सभी प्रकार की परीक्षा में सम्मिलित रूप में आवश्यक बताया है। अमात्य शब्द स्पष्ट रूप से मंत्री के समान है, जो राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी होता है। अमात्य राजा की प्रत्येक गतिविधियों में साथ रहकर गुप्त मंत्रणा करके नियमानुसार नीतिगत रीति से लागू करता है अर्थात् राजा अमात्य के साथ मिलकर ही अपने विवेक से राज्य व प्रजा के हित में अन्तिम निर्णय प्रदान करता है। इस प्रकार राज्य के प्रशासन में अमात्य की भी भूमिका सर्वोपरि रहती है।

सन्दर्भ-सूची

१. ऋग्वेद, १०.१७३.१, १०.१९१.३, ९.९२.६, अथर्ववेद, ६.८७.१, ७.१२.१–४

२. चौधरी, राधा कृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, पटना, २००५, पृ. ५४–५५

३. अहं राजा वरुणो।। अहमिन्द्रो वरुणः।। ऋग्वेद, ४.४२.२–३

४. इन्द्रश्च सम्राट वरुणश्च राजा।। यजुर्वेद, ८.३७

५. ब्रह्मस्त्वं ब्रह्मासि सत्य प्रसवो वरुणोसि सत्यौजा इन्द्रो सि विशीजा रुद्रो सि सुशेवः। बहुकरश्रेयस्करभूयस्करेन्द्रस्य वज्रो सि तेन मे रध्य।। यजुर्वेद, १०.२८

६. यमो वैश्रवणः शक्रोवरुणश्चमहाबलः। विशिष्यते नरेन्द्रीण वृत्तेन महताततः।। अयोध्याकाण्ड, ६७.३५

७. ब्रह्माजनार्दनः शम्भुरिन्द्रो वायुर्यमोरविः। हुतभुग्वरुणो धता पूषा धूमिर्निशाकरः।। एते चान्ये च ये देवाः शापनुग्रहकारिणः। नृपस्यंते शरीरस्थाः सर्वदेवमयो नृपः।। विष्णुपुराण, १.१३.२१-२२

८. सोभाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां विस्ताप्यत्योयमस्य च।
तेजो मात्रां समुद्धृत्य राज्ञो मूर्तिं हि निर्मिता।। बृहस्पति, १.६-७

९. अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्। एको यो हंतिमर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश।।
ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः। तैजसं वै विरजसं सो सृजन्मानसं सुतम्।।
महाभारत, शांतिपर्व, ५९.८७-८८

१०. तपसा भगवान् विष्णुराविवेश च भूमिपम्। देववन्नरदेवानां नमते य जगन्नृपम्।। वही, ५९.१२८

११. ततो जगति राजेन्द्रं सततं शब्दितं बुधैः। देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्यते।। वही, ५९.१८८

१२. इन्द्रो राजा यमो राजा धर्मो राजा तथैव च। राज विभर्ति रूपाणि राज्ञा सर्वमिदं घृत्म्।। वही, ७२.२५

१३. इन्द्रनिलयमर्काणामग्ने च दख्णस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चापि मात्राानिर्हृत्य शाश्वतीः।। शुक्रनीति, १.७१

१४. निष्वत, दैवतकाण्ड, ७.४

१५. सइज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रौर्वाजं भरते धुना नृभिः। ऋग्वेद, ८.२६.३

१६. मिश्र, गिरिजा शंकर, प्राचीन भारत की प्रशासनिक व्यवस्था, अलीगढ़, १९८७, पृ. २४

१७. मत्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा ..... इति क्षूद्रकान् प्रतिषेधयेत्। कौटिल्य अर्थशास्त्र, १.८.१२, पृ. ३७-३८

१८. अप्रणीतो हि ..... गुप्तः प्रभवतीति। कौटिल्य अर्थशास्त्र, १.१.३, पृ. १३

१९. अराजके हि ..... राजानमसृजत्प्रभुः। मनुस्मृति, ७.३

२०. न वैराज्यं न ..... ब्रह्माणं शरणं ययुः। महाभारत, शान्तिपर्व, ५९.१४-२२

२१. (i) अराजकेषु ..... इव जले कृशान। महाभारत, शान्तिपर्व, ६७.३-१७
(ii) यथा ह्यनुदये ..... धनं न परिग्रहः। महाभारत, शान्तिपर्व, ६८.१०-१५

२२. प्रजामनु वैवस्वतं राजान् चक्रिरे। अथर्ववेद ०१.१३.६

२३. धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयम्। अर्थ. १.१३.७

२४. तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहा। अथर्ववेद १.१३.८

२५. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। अथर्ववेद, १.१९.३९

२६. षड्भागभृतो। बौधायन धर्मसूत्र, १.१०.६

२७. स्वभागभृत्यादास्यावै प्रजानां चयनः कृतः। शुक्रनीतिसार, १.८७

२८. तेन धर्मेण महत्ता सुखं लब्धेन-भावितः। महाभारत, शान्तिपर्व, ६७.२८

२९. तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः। अथर्ववेद, १.४.११-१३

३०. सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थ कामैर्योजयति। अथर्ववेद, १.४.१४

३१. दण्डश्चेन्न भवेत्लोके ..... प्रजाः। महाभारत, शान्तिपर्व, १५.३०

३२. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः। मनुस्मृति, ७.१३-१८

३३. आचार्य, सुन्दरायतन : कौटिल्य-अर्थशास्त्र, वाराणसी, ओम् प्रकाशन, १९७३, पृ. ३१

३४. अ. महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि 'जो कोई सप्ताङ्ग राज्य के विरुद्ध यदि कोई आचरण करे, तो उसका विरोध अवश्य करना चाहिए, चाहे वह गुरु या मित्र ही क्यों न हो?

सप्ताङ्गस्य च राजस्य विपरीतं य आचरेत्।

गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः।। महाभारत, शान्तिपर्व, ५६.५

ब. शुक्रनीतिसार में राज्य को शरीर के रूप में प्रतिपादित करते हुए वर्णित किया गया है कि राज्य में राजा मूर्धा अर्थात् मनुष्य के सिर के समान है, अमात्य उस शरीर की आँख, सुहृत् कान है, कोश मुख है, शक्ति या बल मन है, पुर या दुर्ग हाथ है और जनपद पैर है–

स्वाम्यमात्य सुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं मूर्द्धा नृपः स्मृतः।

दृगमात्यः सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः। हस्तौ पादौ राष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि।। शुक्रनीतिसार, १.६१-६२

स. राज्य की तुलना वृक्ष के साथ भी की गई है – 'राज्य रूपी वृक्ष की जड़ राजा है, स्कन्ध मन्त्री है, सेनापति शाखाएँ हैं, सैनिक पत्ते और फूल हैं तथा प्रजा फल हैं और भूमि बीज है।

राज्यवृक्षस्य नृपतिः मूलंस्कन्धाश्च मन्त्रिणः।

शाखास्सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च।

प्रजाः फलानि भूभागा बीजं भूमिः प्रकल्पिताः। शुक्रनीतिसार, ५.१२-१३

विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि राज्य के सप्ताङ्ग रूप होने और एक शरीर के समान होने का विचार प्रायः सभी नीतिग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में उल्लिखित है।

३५. स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणिप्रकृतयः। कौटिल्य अर्थशास्त्र, ६.१

३६. प्रकृत्यवयवानां तु व्यसनस्य विशेषतः।
बहुभावो अनुरागो वा सारो वा कार्यसाधकः।। कौटिल्य अर्थशास्त्र, ८.१

३७. द्वयोस्तु व्यसने तुल्ये विशेषो गुणतः क्षयात्। शेषप्रकृतिषाड्गुण्यं यदिस्यान्नाभिधेयकम्।
शेषप्रकृतिनाशस्तु यत्रैक व्यसनाद्भवेत्। व्यसनं तद्गरीयस्स्यात् प्रधनस्येव तस्य वा।। कौटिल्य अर्थशास्त्र, ८.१

३८. राजा ..... प्रकृति संक्षेपः। कौटिल्य अर्थशास्त्र, ८.१

३९. चौधरी, राधा कृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, पटना, २००५, पृ. ५६

४०. आचार्य, सुन्दरायतन : कौटिल्य-अर्थशास्त्र, वाराणसी, ओम् प्रकाशन, १९७३, पृ. ३९

४१. चौधरी, राधा कृष्ण, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन, पटना, २००५, पृ. ५८

४२. अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तन् अमात्यान्सुपरीक्षितान्। मनस्मृति, ७.६०

४३. कुलगुणशीलवृद्धान् भक्तान् प्रियंवदान्। हितोपदेशकान् क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा।
कुमार्गगमपि नृपं बुद्ध्योद्धतुं क्षमान् शुचीन्। निर्मत्सरान् कामक्रोधलोभहीनान्निरालसान्। शुक्रनीतिसार, २.८-९

४४. न ह्यजनो जनपदो राज्यम्।

४५. व्यास, हरभजन लाल, प्राचीन भारत का राजनातिक इतिहास, नई दिल्ली, २००२, पृ. २३ व २६

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

राष्ट्रीय शिक्षा नीति : उच्च शिक्षा में प्रतिमान परिवर्तन

डॉ. प्रेरणा दाधीच *

भारत में उच्च शिक्षा प्रणाली आरंभ से विद्यमान रही है। एक विकसित राष्ट्र अनिवार्य रूप से एक शिक्षित राष्ट्र होता है। चीन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के बाद भारत की एक उच्च शिक्षा प्रणाली दुनिया में विविधता और अनेकता के मामले में अग्रणी है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में शैक्षणिक संस्थानों की संख्या सबसे अधिक है। विकासशील राष्ट्र के रूप में भारत शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति कर रहा है। वर्तमान में युवाओं को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाने में भारत के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की भूमिका सराहनीय है। इस शोध पत्र में उन प्रमुख चुनौतियों को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है, जिन उच्च शिक्षा की चुनौतियों का वर्तमान में भारत सामना कर रहा है। भारत में २०२० की राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों की चुनौतियों से निपटने के उपाय शामिल है। विभिन्न चुनौतियों के बावजूद भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली में तीव्रता से सुधार हो रहा है। एक नए युग के परिप्रेक्ष्य में भारत, शिक्षण उपकरणों की सहायता से विविध समस्याओं को दूर करने एवं देश में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में एक आदर्श बदलाव लाने का इच्छुक है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति में यह परिकल्पना भी की गई है कि इतनी बड़ी आबादी वाले जीवंत राष्ट्र में सार्थक तरीके से शिक्षित होने की अनन्त संभावनाएँ हैं। यदि सीखने के उन डिजिटल शिक्षण उपकरणों का उपयोग करके ज्ञान प्रदान किया जाता है, तो भारतीय समाज को इस बात से अवगत करा दिया जा सकता है कि हम वर्तमान में कहाँ पिछड़ रहे हैं। उन सभी समस्याओं का समाधान करके हमारा देश सरलता से विश्व के सबसे विकसित राष्ट्रों से उभर कर आगे आ सकता है। २०२० की राष्ट्रीय शिक्षा नीति भारत को विश्व की महाशक्ति बनाने का दम रखती है। इसके अन्तर्गत बहुविषयक, डिजिटल शिक्षा, लिखित संचार, विश्लेषणात्मक तर्क और व्यावसायिक प्रशिक्षण में शिक्षा प्राप्त करने की पद्धति में कायापटल परिवर्तन लाने का इरादा रखती है।[१] 'डयार्ड किपलिंग' ने अपने उपन्यास 'किम' में कहा है कि ''अज्ञानता से बड़ा कोई पाप नहीं'' और यह वास्तविकता है कि अज्ञानी होने से बड़ा कोई पाप नहीं है। व्यापक रूप से शिक्षा की अज्ञानी को प्रबुद्ध करने के एक उपकरण के रूप में मान्यता दी गई है, परन्तु यदि कोई शिक्षा प्रदान करने के बहाने अज्ञानी को धोखा देता है, तो उसका उल्लेख करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। भारत में उच्च शिक्षा प्रणाली विश्व की सर्वोत्तम शिक्षा प्रणालियों में से एक है। एक शिक्षित राष्ट्र ही विकसित राष्ट्र होता है। चीन और अमेरिका के उपरांत सम्पूर्ण विश्व में आकार और विविधता में भारत की उच्चतम शिक्षा प्रणाली तीसरी सबसे बड़ी शिक्षा प्रणाली है। विकासशील राष्ट्र के रूप में भारत शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति कर रहा है। यद्यपि भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली के समक्ष बहुत ही चुनौतियाँ रही है। परन्तु इन चुनौतियों के पार पाने और उच्च शिक्षा प्रणाली को बेहतर बनाने के अनेक समान अवसर भी सामने है। विशिष्ट रोजगारों

* प्राचार्य, जमना देवी कॉलेज नासिरदा, देवली, राजस्थान।

के सृजन लिए देश के अनेक महाविद्यालय, विश्वविद्यालय विविध रोजगार केन्द्रित दृष्टिकोण के साथ नवीन व्यावसायिक पाठयक्रम प्रारंभ करने जा रहे हैं और अनेक शैक्षिक संस्थान आरंभ कर भी चुके हैं। परिवर्तित विश्व के साथ उसी के अनुरूप अनेक नए पाठ्यक्रम शुरु करके सार्थक शिक्षा प्रदान की जा रही है। नवीन पाठ्यक्रमों में व्यावहारिक शिक्षा दी जा रही है। वर्तमान में शिक्षा का क्षेत्र मानविकी, विज्ञान और अभियांत्रिकी (इंजीनियरींग) तब ही सीमित नहीं रह गई है, बल्कि भू-विज्ञान, जैव-प्रौद्योगिकी, नैनो-प्रौद्योगिकी, बायोमेडिकल, दूरसंचार, रेडियो विज्ञान, यात्रा और पर्यटक, फैशन प्रौद्योगिकी, फोरेंसिक साइंस, फिजियोथैरेपी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अनेक अन्य जीविका के विकल्प विद्यमान हैं। इसके साथ ही विद्यार्थी अपनी स्वेच्छा से किसी क्षेत्र विशेष में अपनी योग्यता के अनुसार कोई भी पाठ्यक्रम चुन सकते हैं।[२]

उल्लेखनीय यह भी है कि शिक्षा अब महंगी नहीं है। ऋण और छात्रवृत्ति दो उत्कृष्ट विकल्प उपलब्ध हैं। विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए बैंक पर्याप्त साधनों से लेस है और बैकिंग सुविधाओं के माध्यम से उनके सपनों का साकार कर रहे हैं। छात्र-छात्राएँ रोजगारोन्मुख संगोष्ठियों में भाग लेकर भी अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकते हैं। आज शिक्षा जीवन के हर पहलू में बुद्धि के स्तर पर विविधता, ज्ञान की गहनता और विशेषता को बढ़ा सकती है, किन्तु व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास को लेकर एक बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न है। प्रश्न यह उठता है कि क्या हमारी शिक्षा प्रणाली गुणवत्ता मानकों को निश्चित करने और हमारे विद्यार्थियों को विश्व स्तर पर नियोजन योग्य बनाने में पूर्ण रूप से सक्षम है? हमारी शिक्षा में आवश्यकता किस चीज की है? वर्तमान व्यवस्था कहाँ गलत हो गई है? आमतौर पर देखा जाता है कि अधिकांश शिक्षण संस्थाओं का ध्यान गुणवत्ता की ओर कम और विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि पर अधिक जाता है। अनेक शिक्षण संस्थाओं में कुकुरमुत्तों की तरह चिकित्सक (डॉक्टर), अभियंता (इंजीनियर) एमबीबीएस, मनोविज्ञानी लगातार उग रहे हैं। आज वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकताओं को अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं।[३]

अध्ययन का उद्देश्य

१. उच्च शिक्षा की चुनौतियों पर प्रकाश डालना।

२. चुनौतियों से पार पाने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अन्तर्गत उन अवसरों की पहचानना है, जिनका लाभ उठाया जा सकता है।

साहित्य समीक्षा– ऐथल ने अनुभव किया कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति का उद्देश्य २०३५ तक प्रत्येक विद्यार्थी को बहु-विषयक और अंत:विषयक उच्च शिक्षा प्रदान करना है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति हमें एक रूपरेखा प्रदान करती है, ताकि युवा वर्ग नौकरी प्राप्त करने के लिए तैयार हो सके और डिजिटल दुनिया में प्रतिस्पर्धी बन सके। यह भी तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२० आशयों के विरोधाभास को प्रस्तुत करती है, जिसका उद्देश्य उन लोगों को सम्मिलित करना है जो हाशिए पर है। जबकि दूसरी ओर इस नीति को लेकर माना जाता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति का उद्देश्य निजीकरण और विनिवेश को बढ़ावा देना हो, इवेंट २०२० ने यह संकेत दिया कि कोविड महामारी के दौरान ब्लू कॉलर श्रमिकों के सामने आने वाली चुनौतियों के कारण इस नीति के महत्त्व को समझा गया। २०२० में प्रधानमंत्री ने इस बात पर और प्रकाश डाला कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति, गुणवत्ता, निष्पक्षता, सामर्थ्य और जवाबदेही के मूलभूत सिद्धान्तों पर

आधारित है, जो आजीवन सीखने के अवसरों को बढ़ावा देती है। प्रधानमंत्री मोदी ने कहा कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति भारत के युवाओं को बढ़ी स्वतन्त्रता प्रदान करेगी। उन्होंने युवा निर्माण के महत्त्व को समझाते हुए कहा कि युवा भारत का विकास इंजन है और भारत विश्व का विकास इंजन है।[४]

उच्च शिक्षा में चुनौतियाँ– आज हमारी उच्च शिक्षा प्रणाली के सामने आज अनेक चुनौतियाँ हैं। विवेचित पत्र उन चुनौतियों और अवसरों पर प्रकाश डालेगा जिनका लाभ उठाकर हमारी शिक्षा प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप लाने के लिए इन चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। भारत के स्वतन्त्र हुए ७५ वर्ष हो चुके हैं और अभी तक हमारी शिक्षा पूर्णरूप से व्यवस्थित नहीं हो पाई है। हम विश्व के शीर्ष १०० विश्वविद्यालयों में एक को भी सूचीबद्ध नहीं कर पा रहे हैं। इन सात दशकों में अनेक सरकारें बदली। उन्होंने शिक्षा प्रणाली को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न शिक्षा नीतियों को लागू करने का प्रयास किया, परन्तु ये ब्रह्माण्ड के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त नहीं थी। यूजीसी की ओर से उच्च शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पर निरन्तर काम हो रहा है। लेकिन अभी भी हम अपनी शिक्षा प्रणाली में अनेक समस्याओं और चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। इस अध्ययन में भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली की मूलभूत समस्याओं एवं चुनौतियों की चर्चा है।

यद्यपि गुणवत्ता का संबंध उत्पादों से होता है जिसके लिए मानक निर्धारित और परीक्षण किए जाते हैं, किन्तु शिक्षा पर इसे कैसे लागू किया जा सकता है? शिक्षा एक अमूर्त उत्पाद है, जिसे अनुभव तो किया जा सकता है पर देखा नहीं जा सकता। उत्पाद के संबंध में यह बात कही जा सकती है कि अंतिम परिणाम ग्राहक की संतुष्टि के स्तर से वस्तुनिष्ठ माप द्वारा निर्धारित किया जा सकता है, लेकिन शिक्षा इतनी सरलता से ऐसा नहीं कर सकती। इसलिए की शिक्षा एक परिवर्तन प्रक्रिया है जिसके परिणाम स्वरूप अन्य अमूर्त मानक जैसे कौशल, क्षमता व बौद्धिक स्तर का उन्नयन होना चाहिए। चीन और ब्राजील की तुलना में भारत की सकल नामांकन दर (जीईआर) ठीक नहीं है। यदि हमें वास्तव में भारत की उच्च शिक्षा नीति में सुधार करना है तो 'जीईआर' को सुधारना होगा। राष्ट्रीय महत्त्व के आई.आई.टी., आई.आई.एम जैसे भारतीय संस्थानों के पास धन की कोई कमी नहीं है। लेकिन गुणवत्ता वाले शोध कार्य की कीमत के कारण अनुसंधान के लिए बजट कम खर्च किया जाता है। अनुसंधान और अंतर्राष्ट्रीयकरण पर सीमित ध्यान देने के कारण बहुत कम भारतीय उच्च शिक्षण संस्थान विश्व स्तर पर मान्यता प्राप्त हैं। हमारे देश में नाम मात्र के विद्वान् हैं, जिनके लेखन को पाश्चात्य विद्धानों ने अधिकृत्य किया है। विद्यार्थियों को उचित परामर्श देने हेतु अपर्याप्त संसाधनों और सुविधाओं के साथ-साथ सीमित गुणवत्ता वाले संकाय है। अधिकांश शोधार्थियों को फैलोशिप नहीं मिल रही है, जिसके कारण उनका शोध कार्य प्रभावित हो रहा है। इसके अतिरिक्त भारतीय उच्च शिक्षण संस्थान अनुसंधान केन्द्रों से उचित प्रकार से जुड़े नहीं है। अतः भारत में उच्च शिक्षा के लिए यह एक बड़ी चुनौती है। बेशक पिछले कुछ दशकों से भारत में प्रकाशित शोधपत्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है, परन्तु जर्मनी, यूएसए., फ्रांस और चीन जैसे अन्य देशों की तुलना में अभी भी उसका प्रभाव कम है। आज भारत में विद्यार्थियों को यदि नौकरियाँ नहीं मिल रही हैं, तो उसके पीछे हमारी अनुचित शिक्षा प्रणाली है। पाठ्यक्रम रोजगार उन्मुख नहीं है, उसकी गुणवत्ता में कहीं-न-कहीं कमी है। अधिकांश शिक्षण संस्थानों में पाठ्यक्रम पुराना व अप्रासांगिक है। वर्तमान में शिक्षण संस्थानों का उद्योग के साथ समन्वय कम है।

स्नातकों के केवल छोटे से अनुपात को रोजगार के योग्य समझा जाना भी एक समस्या है। संकाय की कमी व योग्य शिक्षकों को आकर्षित बनाए रखने के लिए राज्य शिक्षा प्रणाली की अक्षमता भी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए चुनौती पेश कर रही है। उच्च शिक्षण संस्थानों में बहुत अधिक रिक्तियाँ होने के बावजूद अनेक नेट/पीएचडी. उम्मीदवार बेरोजगार घूम रहे हैं। ये सभी अन्य विभागों के अन्तर्गत आवेदन कर रहे हैं। जो उच्च शिक्षा प्रणाली के लिए बहुत बड़ा आघात है। भारत में प्रतिष्ठा प्राप्त उच्च शिक्षण संस्थानों के अतिरिक्त अधिकांश महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में मूलरूप से शोध सुविधाओं का अभाव है। अनेक संस्थान ऐसे हैं जो बिना पुस्तकालय, खेल सुविधा, परिवहन आदि के चल रहे हैं। इसलिए ये किसी संस्थान का मूल्यांकन करने के लिए वांछनीय है। अधिकांश संस्थान राजनीतिक नेताओं के स्वामित्व में है जो विश्वविद्यालय में शासक की भूमिका निभा रहे हैं। वे अपने स्वार्थ के लिए मासूस विद्यार्थियों का इस्तेमाल करते हैं। विद्यार्थी भी अपना मूल उद्देश्य को भूल कर पढ़ाई छोड़कर राजनीति में अपना कैरियर बनाने में लीन हो जाते हैं। इन महाविद्यालयों में क्षमता की कमी है और ये अभिभावकों से पैसा लूट रहे हैं। इन उच्च शिक्षण संस्थानों में ग्लैमर अधिक है, शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आज शिक्षण संस्थान यूजीसी व अन्य शासकीय निकाय निर्धारित मानदंडों का अनुपालन कर रहे हैं, जिससे विद्यार्थियों में कोई ठोस परिवर्तन नहीं हुआ है। पहले व्यावसायिक पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों तक ही सीमित और उनमें प्रवेश भी मुश्किल से होता था। परंतु आज ये पाठ्यक्रम महाविद्यालयों को भी दिए जा चुका है। ऐसा करके उन विश्वविद्यालयों ने अपना बोझ तो कम कर दिया है, पर छात्र-छात्राओं का भविष्य अनिश्चित हो गया है। उनका प्लेसमेंट मुश्किल ही नहीं अपितु असंभव हो गया है।

अवसर और सुभायात्मक उपाय– भारत में उच्च शिक्षा प्रणाली के मानकों को उन्नत करने के लिए वर्तमान परिदृश्य में व्यापक शोध और विश्लेषण के आधार पर शोध समितियों और विशेषज्ञों ने अनेक उपाय सुझाया है। उन्होंने कहा कि भारतीय शिक्षा प्रणाली को प्रतिस्पर्धी एवं प्रासंगिक बनाने के लिए प्राथमिक शिक्षा से उच्च शिक्षा स्तर तक नवीन और परिवर्तनकारी दृष्टिकोण लागू होने चाहिए। छात्रों पर बढ़ते बोझ के कारण पाठ्यक्रम की व्यापक समीक्षा की जानी चाहिए। सिस्टम को उनकी प्रगति के सभी चरणों में सक्रिय भागीदारी, रचनात्मक विकास और चिंतनशील सोच की निगरानी की जानी चाहिए। उच्च शिक्षा संस्थानों को शिक्षा में गुणवत्ता लाने, प्रतिष्ठा में सुधार करने और छात्रों के आदान-प्रदान, संकाय विनिमय कार्यक्रमों और उच्च गुणवत्ता वाले राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय उच्च शिक्षण संस्थानों के साथ व अन्यों के सहयोग से विश्वनियता स्थापित करने की आवश्यकता है। भारत सरकार को भारतीय उच्च शिक्षण संस्थानों और शीर्ष राष्ट्रीय संस्थानों के बीच सहयोग को बढ़ावा देना चाहिए। बेहतर गुणवत्ता और सहयोगी अनुसंधान के लिए राष्ट्रीय अनुसंधान प्रयोगशालाओं और शीर्ष संस्थानों के अनुसंधान केन्द्रों के बीच संबंध सुदृढ़ बनाने के प्रयास होने चाहिए। ज्ञान का आधार भी समग्र और बहु-आयामी होना चाहिए। जिसमें छात्र की सामाजिक शिक्षा, सामाजिक कौशल, अध्ययन व लेखन कौशल व अन्य अनेक विशेषताओं से सुधार शामिल हो, जो कुशल और कौशल भारत के अनुरूप हों।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति : वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सभी समस्याओं के लिए रामबाण– प्रचलित परंपराओं व संस्कृति को ध्यान में रखते हुए एक सुविचारित, प्रारूपित और भविष्यवादी नीति बहुत आवश्यक है, क्योंकि शिक्षा किसी भी देश की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को उन्नत बनाने में महत्त्वपूर्ण

योगदान देती है। भारत की शिक्षा प्रणाली के दृष्टिकोण को रेखांकित करते हुए एनईपी २०२० निरंतर गुणवत्ता पर आधारित शिक्षा सुनिश्चित करने के लिए पाँच स्तम्भों यथा, सामर्थ्य, पहुँच, गुणवत्ता, समानता और जवाबदेही पर बल देती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति युवाओं को नौकरी व रोजगार देने उन्हें प्रतिस्पर्धी और डिजिटल दुनिया में सक्षम बनाने के लिए, प्राथमिक और उच्च शिक्षा में अचूक परिवर्तन लाने के लिए एवं विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करती है। भारत को ज्ञान की महाशक्ति बनाने के लिए बहु–विषयक, डिजिटल कक्षा, लिखित संसार, समस्या समाधान, विश्लेषणात्मक तार्किक और व्यावसायिक प्रशिक्षण पर बहुत जोर दिया गया है। इस नीति के अन्तर्गत विद्यार्थियों में आवश्यक कौशल विकसित करके एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की कल्पना की गई है ताकि छात्रों को अधिक कल्पनाशील, रचनात्मक और तकनीक जिज्ञासु बनाया जा सके। हमारा लक्ष्य आईसीटी की ओर उन्मुख है। शैक्षिक, डिजिटल और मूल ढाँचे के निर्माण के माध्यम से एक आत्मनिर्भर भारत का विकास हो रहा है। एनईपी के मुख्य आकर्षणों में से एक है – एक राज्य और किसी भी राज्य, संस्थान या स्कूल के लिए किसी विशेष भाषा को अपनाना अनिवार्य नहीं होगा और एनईपी २०२० भाषा नीति सलाहकार प्रकृति की है। इसके विषय में निर्णय लेना और इसका कार्यान्वयन राज्यों के विवेकाधीन होगा। एनईपी २०२० का एक अन्य मुख्य आकर्षण हमारे विद्यार्थियों को विश्व स्तर पर रोजगार के योग्य बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और कौशल उन्मुख शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करना है। हालाँकि, बहुत सुधार हो रहे हैं, एनईपी २०२० की सफलता के लिए दुनिया में विकसित विकास के साथ तालमेल रखने के लिए सुझाए गए सुधारों को तीव्रता से क्रियान्वयन करना अनिवार्य है। एनईपी २०२० स्कूल के प्रदर्शन को मापने के लिए उसकी गुणवत्ता, मूल्यांकन और मान्यता के लिए एक महत्त्वपूर्ण रूपरेखा का भी प्रस्ताव देता है।

शोध में सुधार के संबंध में नई शिक्षा नीति का सुझाव है कि सभी विषयों में सभी प्रकार के प्रतिस्पर्धी और नवीन अनुसंधान प्रस्तावों के वित्तपोषण के लिए राष्ट्रीय अनुसंधान फाउंडेशन (एन.आर.एफ.) का गठन किया जायेगा। अनुसंधानों के प्रस्तावों के उचित मूल्यांकन के आधार पर एन.आर.एफ. एवं अन्य एजेंसियों से अनुसंधान निधि को एचईआई के बीच समान रूप से वितरित किया जाएगा। एनईपी २०२० के अन्तर्गत यह प्रस्ताव रखा गया कि संकाय सदस्य ही विद्यार्थियों को रचनात्मक व नवीनतम विचारक बनाने में मार्गदर्शक और सहयोगी की भूमिका निभाएंगे। बाद में शिक्षण पद्धति के माध्यम से कक्षा में पढ़ाई और शोध परियोजना कार्य पर ध्यान केन्द्रित किया जाएगा।[५]

उपसंहार– भारत में उच्च शिक्षा प्रणाली न केवल तेजी से कार्य कर रही हैं, अपितु यह अनेक चुनौतियों का भी सामना कर रही है। माँग आपूर्ति का अंतर, शोध की गुणवत्ता, आधारभूत संरचना, संकाय की कमी इत्यादि इसके अन्तर्गत आते हैं। इनसे बचने के लिए अनेक नए संस्थान खोले गए जिनके माध्यम से शिक्षा की गुणवत्ता को सुधारने के प्रयास किए जा रहे हैं। शिक्षा का भविष्य सुनहरा बनाने के लिए आवश्यक है कि वित्तीय साधनों, एक्सेस, इक्विटी, गुणवत्ता स्तर, प्रासंगिकता, आधारभूत संरचना और उत्तरदायित्व पूर्णता की ओर दृष्टि डाली जाए। विद्यार्थियों के रोजगार के लिए उद्योग और शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाना अनिवार्य है। इन दिनों व्यावसायिक कौशल के पाठ्यक्रमों की माँग बढ़ती जा रही है। इससे छात्र–छात्राओं की दक्षता और रुचि का पता चलता है। राज्य स्तरीय संस्थानों की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए अध्यापक शिक्षाशास्त्र, शोध और अध्यापन के बीच तालमेल बनाने और उनके शोध केन्द्रों, व्यवसाय एवं

उद्योग के बीच उच्च शिक्षा का संचार करने की आवश्यकता है। न केवल आर्थिक विकास के लिए बल्कि सामाजिक सहयोग व देश के युवाओं को सशक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है। हमारे समक्ष कई चुनौतियाँ हैं। भविष्य में राष्ट्रीय शिक्षा नीति को पूर्णतः क्रियान्वित करने में इन सभी कमियों को दूर किया जा सके और शिक्षा को शिखर तक ले जाया जा सके, तभी राष्ट्रीय शिक्षा नीति सफल हो पाएगी।

सन्दर्भ-सूची

१. भल्ला, पी., २०२२, ०५ जुलाई, शिक्षा प्रणाली के भीतर उद्यमशीलता की मानसिकता का पोषण करना। द टाइम्स ऑफ इण्डिया।

२. भरत (२०२०, २३ अगस्त) राष्ट्रीय शिक्षा नीति, को प्रोत्साहन ट्रिब्यून।

३. भाटिया, आर. और भाटिया, ए. (२०१९) "भारत में उच्च शिक्षा के संदर्भ में शिक्षा में अनुभवात्मक शिक्षा पर गहन अध्ययन, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी अनुसंधान के अंतर्राष्ट्रीय जर्नल, वॉल्यूम १८।

४. कुरियन, अजय और चन्द्रमण, सुदीप। (२०२०) नई शिक्षा नीति २०२० का उच्च शिक्षा पर प्रभाव।

५. गनी, गौहर (२०२२) एनईपी, २०२० : भारत में व्यावसायिक शिक्षा और प्रशिक्षण की चुनौतियाँ और संभावित समाधान, १४ (७०८-७२०)।

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

'धनुष-बाण' प्राचीन भारतीय योद्धाओं का प्रमुख हथियार : एक अध्ययन

डॉ. स्मिता पाण्डेय*

प्राचीन भारतीय साहित्य एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेक प्रकार के हथियारों के निर्माण एवं प्रयोग के बावजूद धनुष-बाण प्राचीन भारतीय योद्धाओं का प्रमुख हथियार था।

साहित्यिक साक्ष्य- वैदिक काल में सैनिकों का मुख्य हथियार धनुष-बाण था। इसी आधार पर धनुर्वेद की रचना की गयी जिसमें धनुष-बाण के मुख्य रूप, शिक्षण, प्रशिक्षण, बनावट आदि का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के अनुसार मृतक संस्कार का अन्तिम कृत्य मृत व्यक्ति के दाहिने हाथ में धनुष को ले जाना था।[१] मैकडोनल और कीथ का विचार है कि व्यवहारतः वैदिक कालीन युद्ध में कोई अन्य आयुध महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता था।[२] अथर्ववेद में धनुष-बाण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।[३] यजुर्वेद में धनुर्विद्या में प्रवीण होना राजा का प्रमुख गुण माना गया है, जिसे शतधन्व के नाम से पुकारा जाता था।[४]

महाकाव्यों में धनुष-बाण को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। पाणिनि के अनुसार धनुष-बाण से लड़ने वाले को 'धानुष्क' कहा जाता था।[५] यूनानी लेखक एरियन के अनुसार चतुर्थ शताब्दी ई.पू. काल में सभी पैदल सैनिक धनुष धारण करते थे।[६] पतंजति ने भी बड़े धनुष को 'महेष्वास' कहा है।[७] कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम् में हाथ में धनुष लिये हुए सैनिकों का वर्णन किया है।[८] महाभाष्य में गाण्डीव, आजगव और शारंग आदि प्रसिद्ध धनुष के नाम मिलते हैं। रघुवंश में वायें हाथ में बाण एवं दाहिने हाथ में धनुष लिए हुए सैनिकों द्वारा भार-संधान का उल्लेख है, जिसमें सैनिकों का सव्यसाची होना सिद्ध होता है।[९] इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि गुप्त-काल तक धनुर्विद्या में प्रायः सैनिक निष्णात होते थे, किन्तु गुप्तकाल से पूर्व भी धनुष-बाण को सैनिकों द्वारा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता था।

ऋग्वेद में बाण के लिए इषु, शर, शर्य, बाण आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[१०] बाण के तीन भाग होते हैं।[११]

१. शरीर - यह नरकुल का बना होता था।

२. बाण का अग्रभाग - यह सींग, कांस्य, ताँबे या लोहे का बना होता था।

३. पूँछ - बाण के दूसरे सिरे पर पंख लगा हुआ होता था, जिससे वह हवा को चीरते हुए तेजी से आगे बढ़ता था।[१२]

बाण का शरीर या मुख्य भाग सरकंडे, बाँस या अन्य प्रकार की लकड़ी या लोहे का बना होता था।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, सैन्य विज्ञान विभाग, आचार्य नरेन्द्र देव किसान पी.जी. कॉलेज, बभनान-गोण्डा (उ.प्र.)

प्रयुक्त सामग्री के आधार पर बाणों के अनेक नाम बताये गये हैं। कौटिल्य[१३] ने बाँस से बने बाण को 'वेणु' सरकंडे के बने बाण को 'शर', अन्य लकड़ी के दण्ड से निर्मित बाण को 'शलाका', आधे लोहे और आधे लकड़ी से बने बाण को 'दंडासन' तथा सम्पूर्ण लोहे से बने बाण को 'नाराच' कहा जाता है। महाभारत में दो प्रकार के बाणों का उल्लेख है। १. वैष्णव – यह सम्भवतः बेंत का बना होता था। २. आयस – यह लोहे का बना होता था। महाभारत में नाराच के बाण का उल्लेख भी हुआ है। चक्रवर्ती के अनुसार इसका प्रयोग हाथियों को मारने के लिए किया जाता था।[१४] कालिदास ने भी नाराच नामक लोहे के बाण का उल्लेख किया है।[१५] धनुर्वेद में बाणों के दस प्रकार बताये गये हैं[१६] – आरामुख, क्षुरप्र, गोपुच्छ, सूचीमुख, भल्ल, द्विभल्ल, वत्सदंत, अर्द्धचन्द्र, कर्णिक तथा काकतुंड। जैन ग्रन्थों में नागबाण, तामस बाण, पद्म–बाण, महापुरुष और महारुधिर बाणों का उल्लेख मिलता है।[१७] इन बाणों को अद्‌भुत और विचित्र शक्तिधारी कहा गया है। नाग– बाण को जब धनुष पर चढ़ाकर छोड़ा जाता था तो वह जलती हुई उल्का के दंड रूप में शत्रु के शरीर में प्रवेश कर नाग बनकर उसे चारों तरफ से लपेट लेता था। तामस– बाण छोड़ने पर युद्ध भूमि में अंधकार छा जाता था।[१८] इसी प्रकार शब्दभेदी बाण–एक प्रकार का ऐसा बाण होता था, जिसको प्रयोग करते समय लक्ष्य को देखना आवश्यक नहीं था। जहाँ शब्द होता था उसी ओर इस बाण को छोड़ दिया जाता था और यह बाण उस स्थान पर ही प्रहार करता था जहाँ पर शब्द हुआ था। इसका प्रयोग अंधकार में होता था। रामायण में राजा दशरथ द्वारा श्रवण कुमार पर ऐसे ही बाण का प्रयोग किया गया था।[१९]

पुरातात्त्विक साक्ष्य– प्राचीनतम मुद्राओं पर अन्य हथियारों की अपेक्षा धनुष–बाण तथा तरकस का अंकन अधिक हुआ है। स्पष्टतः इस काल में धनुष–बाण का सर्वाधिक प्रयोग होता था। आहत मुद्राओं के पुरोभाग पर धनुश और बाण का अंकन है।[२०] बैक्ट्रियन एवं यूनानी राजाओं के सिक्कों पर देवी–देवताओं को प्रायः धनुष–बाण से युक्त अंकित किया गया है।[२१] स्ट्रैटो प्रथम की ताम्र मुद्राओं के पुरोभाग पर अपोलो के बायें हाथ में धनुष का अंकन है, जिसे वह जमीन पर रखे हुए हैं।[२२] इसी प्रकार शक–शासक मावोज[२३] के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर अपोलो के बायें हाथ में, एजेज[२४] प्रथम की चाँदी की मुद्राओं के पुरोभाग पर राजा के हाथ में तथा एजिलिज[२५] की रजत मुद्राओं के पुरोभाग पर अश्वारोही राजा तथा स्पेलिरिसिस[२६] के ताम्र सिक्कों पर टहलते हुए राजा के हाथ में धनुष का अंकन मिलता है। इसी प्रकार कुषाणवंशी शासक हुविष्क के सिक्कों के पृष्ठभाग पर देवता के अंकन हैं तो बायें हाथ में धनुष लिए हुए हैं।[२७]

सिक्कों के माध्यम से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में धनुष–बाण सैनिकों का प्रमुख आयुध हो गया था। गुप्त–राजाओं के सिक्कों पर धनुष–बाण का अंकन प्रायः मिलता है। समुद्रगुप्त के धनुर्धारी प्रकार के स्वर्ण–सिक्कों के पुरोभाग पर राजा बायें हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण लिए हुए हैं।[२८] इस राजा के व्याघ्रनिहंता प्रकार के सिक्कों पर राजा को बायें हाथ से धनुष की प्रत्यंचा को खींचते हुए तथा दाहिने हाथ में बाण पकड़े हुए अंकित किया गया है।[२९] इस अंकन को राजा का सब्बसाची होना सिद्ध होता है। इसी प्रकार का अंकन चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों पर हुआ है।[३०] अन्य गुप्त–राजाओं के सिक्कों पर भी धनुष–बाण का अंकन अधिकता से हुआ है।

प्राचीनतम मूर्ति कला में भी धनुष–बाण का अंकन हुआ है। मथुरा संग्रहालय में कुषाणकालीन अष्टभुजी विष्णु की आकृति सुरक्षित है, जो एक हाथ में धनुष लिये हुए है।[३१] मथुरा से प्राप्त प्रथम शताब्दी

ई. के कुछ मृणपदकों पर कामदेव का अंकन है जो बायें हाथ में धनुष तथा दायें हाथ में बाणों का मुट्ठा पकड़े हुए हैं।[३२] इसी प्रकार बोधगया (प्रथम शती ई.पू.) में सूर्य को अत्यन्त गतिमान चार घोड़ों के रथ पर आसीन दिखाया गया है और ऊपर दोनों ओर उनकी पत्नियाँ प्रभा और छाया धनुष के द्वारा तिमिर पर बाण चला रही हैं।[३३] उदयगिरि (विदिशा) में गुफा संख्या-१७ से ४००ई. की दुर्गा महिष-मर्दिनी की मूर्ति प्राप्त हुई है। इसके बायें हाथ में धनुष तथा दाहिने हाथ में बाण है।[३४]

शिल्प-कला में अंकित अस्त्र-शस्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि शुंगकालीन (दूसरी-प्रथम शताब्दी ई.पू.) आयुधों में धनुष-बाण प्रमुख शस्त्रास्त्र था। भरहुत स्तूप के चित्रण में पैदल सैनिकों को धनुष-बाण से युक्त दिखाया गया है।[३५] साँची स्तूप के दक्षिणी तोरण के द्वार के एक युद्ध दृश्य में लगभग प्रत्येक पदाति सैनिक धनुष-बाण से युक्त अंकित हैं।[३६] इसी प्रकार अमरावती[३७] गांधार और नागार्जुन कोंडा की शिल्प-कला में भी अनेक दृश्यों में विविध प्रकार के धनुषों का अंकन मिलता है।

धनुष-बाण की माप- धनुष की लम्बाई के विषय में विभिन्न ग्रंथों में भिन्न माप दी गयी है। महाभारत के अनुसार धनुष की लम्बाई छः हाथ होती थी। सामान्यतः सैनिक की लम्बाई के बराबर ही धनुष की लम्बाई होती थी। कुछ विद्वानों के अनुसार साधारण धनुष की लम्बाई साढ़े चार हाथ तथा सींग के बने धनुष की लम्बाई साढ़े तीन हाथ होनी चाहिए।[३८] एरियन के अनुसार चतुर्थ शताब्दी ई.पू. में पैदल सैनिक अपनी ऊँचाई के बराबर धनुष धारण करते थे।[३९] साँची स्तूप में भी इसी माप के कुछ धनुषों का अंकन है, किन्तु अन्य छोटे हैं।[४०] सिक्कों पर भी धनुर्धारी के बराबर धनुष का अंकन है। उदाहरण के लिए कुषाण शासक हुविष्क की मुद्राओं के पुरोभाग पर एक धनुर्धारी का अंकन है, जो अपने बराबर धनुष धारण किया हुए है।[४१] कौटिल्य ने धनुष का माप पाँच हाथ मानी है।[४२] पी.सी. चक्रवर्ती के अनुसार गुप्त-सिक्कों पर अंकित धनुष की लम्बाई लगभग साढ़े पाँच फुट प्रतीत होती है।[४३] अग्निपुराण में उत्तम धनुष की लम्बाई चार हाथ, मध्यम श्रेणी की साढ़े तीन और निम्न श्रेणी के धनुष की लम्बाई तीन हाथ बतायी गयी है।[४४] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि धनुष की अधिकतम लम्बाई साढ़े पाँच हाथ तथा न्यूनतम तीन हाथ होती थी।

बाणों की लम्बाई और उसके आकार के विषय में भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इसकी लम्बाई पाँच और तीन फुट के लगभग बतायी गयी है।[४५] शिव धनुर्वेद के अनुसार सबसे अच्छे बाण की लम्बाई ३६ इंच, मध्यम बाण की ३३ इंच तथा अधम कोटि के बाणों की लम्बाई ३० इंच होती है।[४६] पोरस और सिकंदर के विरुद्ध युद्ध में प्रयुक्त बाणों की तीव्रता एवं लम्बाई के विषय में एरियन लिखता है कि भारतीय सैनिकों द्वारा छोड़े गये बाणों को किसी प्रकार की ढाल या कवच अथवा अन्य सुरक्षात्मक वस्तु रोकने में असमर्थ था। भारतीय बाणों की लम्बाई तीन क्यूबिट (हस्त) से कुछ कम होती थी।[४७]

स्ट्रेबो ने मौर्यकालीन बाण की लम्बाई तीन हाथ बतायी है।[४८] अग्निपुराण के अनुसार सर्वश्रेष्ठ बाण १२ मुट्ठी लम्बा होना चाहिए।[४९] नीतिप्रकाशिका के अनुसार बाण की लम्बाई तीन हस्त[५०] तथा शुक्रनीति के अनुसार दो हाथ होनी चाहिए।[५१] इन प्रमाणों से यह निष्कर्श निकलता है कि बाणों की औसत लम्बाई २ से ३ हस्त (क्यूबिट) होती थी।

धनुष-निर्माण सामग्री- धनुष के दो भाग होते हैं - कमानी और डोरी या प्रत्यंचा। कमानी लकड़ी या सींग या धातु की बनायी जाती है। बाँस की कमानी में अधिक लोच होने के कारण इसका प्रयोग अधिक

होता था। ऋग्वेद काल में धनुष मजबूत डंडे का बना होता था, जिसे झुकाकर धनुष की आकृति दी जाती थी। इसके दोनों सिरों को जोड़ने वाला 'ज्या' का गाय के चर्म की डोरी का बना होने का उल्लेख मिलता है।[५२] जातकों में भेड़ की सींग से निर्मित धनुष का उल्लेख है, किन्तु इनका प्रयोग बाँस और लकड़ी से बने धनुष की तरह ही होता था।[५३] पाणिनि एवं पतंजलि ने ताल से निर्मित धनुष का उल्लेख किया है।[५४] अर्थशास्त्र में धनुष-निर्माण सामग्री एवं उनके विभिन्न नामों का उल्लेख मिलता है- ताल (ताड़) की लकड़ी के बने धनुष को 'कार्मुक', बाँस के बने धनुष को 'कोदंड', दारु लकड़ी से बने धनुष को 'द्रूण' और सींग से बने धनुष को 'सारंग' कहा गया है।[५५] इस प्रकार कमानी का निर्माण उपर्युक्त वस्तुओं से किया जाता था, केवल अग्निपुराण में ही धातु की कमानी का उल्लेख है।[५६]

धनुष के भेद- धनुष-निर्माण सामग्री के आधार पर धनुष के दो भेद हैं -

(१) साधारण धनुष : वह धनुष जो बाँस या लकड़ी के एक टुकड़े से निर्मित होता था। इस प्रकार के धनुष का प्रयोग प्रायः हुआ है, जिसका प्रमाण साहित्य, मुद्रा एवं शिल्पकला में मिलता है।

(२) संयुक्त धनुष : वह धनुष जो एक से अधिक वस्तुओं से निर्मित होता था। इस प्रकार के धनुष का उल्लेख अग्निपुराण के दो गद्यों में हुआ है। पहले गद्य के अनुसार धनुष का निर्माण सींग और लोहे के सम्मिश्रण से होता था।[५७] दूसरे में मध्य भाग लकड़ी के टुकड़े से जुड़ा होता था। इस प्रकार के धनुष का प्रमाण शिल्प-कला के अंकन में भी देखने को मिलता है। गांधार कला में केवल संयुक्त धनुष का ही अंकन हुआ। इसमें अंकित धनुष की आकृति से स्पष्ट होता है कि धनुष की कमानी में तीन घुमाव होते थे और धनुष के दोनों सिरों पर छिद्र बने हुए रहते थे, जिनमें प्रत्यंचा बाँधी जाती थी। इस प्रकार के धनुष का अंकन 'श्याम-जातक' के दृश्य में राजा के हाथ में हुआ है।[५८]

प्रत्यंचा (डोरी)- प्रत्यंचा का निर्माण बाँस, तंतु, सन, अर्क आदि लकड़ी-तंतु, मूँज (घास) तथा चर्म व जानवरों के स्नायु तन्तों से बनायी जाती थी। शिव धनुर्वेद के अनुसार रेशम के धागे की या बाँस तंतु और रेशम के धागे के योग से बनी डोरी श्रेष्ठ समझी जाती थी। वैदिक काल में गाय के चर्म की डोरी का उल्लेख भी मिलता है। शिव-धनुर्वेद में हिरन व भैंस की स्नायु तंतु की तथा भेड़ के चर्म की डोरी का भी उल्लेख है। डोरी की मोटाई छोटी अंगुली (कनिष्ठका) की मोटाई के समान होती थी।[५९] अथर्ववेद में रेशम, गाय-भैंस और बकरी के चमड़े से निर्मित प्रत्यंचा को उत्तम बताया गया है।[६०] अर्थशास्त्र के अनुसार मूर्वा, आख, सन, अवेधुकावेणु (राम बाँस) और ताँत की प्रत्यंचा बनानी चाहिए।[६१]

धनुष चलाने के पैंतरों के प्रकार- धनुर्वेद में धनुष चलाने के आठ पैंतरों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं - अँगूठा, गुल्फ, हाथ तथा पैर सहित यदि श्लिष्ट हों तो लक्षण से वह स्थान 'समपाद' देखा गया है। इस प्रकार के आसन का चित्रण भरहुत में 'रुरु जातक' (दूसरी शताब्दी ई.पू.) के दृश्य में हुआ है।[६२] दूसरे विषमपाद आसन का अंकन अमरावती कला में देखने को मिलता है।[६३] बाह्य अंगुलियों से स्थिर रहने वाले पैर हों और दोनों जानुओं (घुटनों) के बल स्तब्ध हों तो यह त्रिविध स्तपंतरा स्थान 'बैशाख' नाम से कहा जाता है।[६४] जिस युद्ध में हलकी सी आकृति वाले दक्षिण जानु तथा दोनों उरु स्तब्ध हों तथा विस्तार में पाँच बालिश्त हों वह युद्ध में 'आलीढ़' नाम वाला कहा गया है।[६५] अमरावती स्तूप में अंकित एक दृश्य में रथ पर सवार होकर 'आलीढ़' मुद्रा में खड़ा योद्धा धनुष-बाण चला रहा है।[६६] कालिदास के अनुसार रघु ने इन्द्र के साथ युद्ध में इस प्रकार के आसन का प्रयोग किया था।[६७] 'विकट'

आसन में दोनों पैरों के बीच की दूरी अधिक होती है तथा दाँया पैर कसा हुआ होता है। इस प्रकार का चित्रण उदयगिरि में रानीगुफा में एवं नागार्जुनकोडा में हुआ है।[६८] अग्निपुराण में इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के पैंतरों का उल्लेख हुआ है।[६९] वे हैं - मंडल[७०] और दंडायत।[७१] दोनों महाकाव्यों में धनुष चलाने के इन पैतरों का उल्लेख नहीं मिलता। स्पष्टतः यह महाकाव्य काल के बाद की युद्धकला के विकास का सूचक है।

धनुष-बाण पकड़ (होल्डिंग) के प्रकार- बाण छोड़ते समय अंगुलियों की भी विभिन्न मुद्राएँ होती थीं। यथा -

१. पताका[७२] - इस पकड़ में पहली अंगुली अंगूठे की जड़ में होती थी तथा नलिका को दूर तक फेंकने में इस पकड़ का उपयोग किया जाता है।

२. वज्रमुष्टि[७३] - इस पकड़ में पहली और बीच की अंगुली के बीच में अंगूठा प्रयोग में लाया जाता है।

३. सिंहकर्ण[७४] - इस पकड़ का प्रयोग दृढ़ लक्ष्य साधने में होता है। इसमें तर्जनी उंगली के ऊपर का भाग अँगूठे के मध्य भाग से मिला रहता है।

४. मत्सरी[७५] - यह पकड़ चित्र लक्ष्य भेदन में प्रयोग की जाती है और अँगूठे के नाखून से पहली उंगली के ऊपर का भाग मिला रहता है।

५. काकतुण्डी[७६] - इस पकड़ में तर्जनी का मुख भाग अँगूठे के अग्रभाग पर रखा होता है। सूक्ष्म लक्ष्य में उसका प्रयोग है।

धनुर्धारी के लिए चार लक्ष्य[७७] नियम है -

१. चर (योद्धा स्थिर हो, किन्तु लक्ष्य चलायमान हो)।

२. स्थिर (जहाँ लक्ष्य और योद्धा दोनों स्थिर हों)।

३. चलाचल (लक्ष्य स्थिर हो और योद्धा चलायमान हो)।

४. द्वयचल (योद्धा और लक्ष्य दोनों चलायमान हों)।

इससे पता चलता है कि तत्कालीन भारतीय योद्धा इस विद्या में निपुण थे। धनुर्वेद का कथन है कि पहले बाँये हाथ से अभ्यास करना चाहिए, इससे शीघ्र सिद्धि होती है।[७८] छोटे बाणों का लक्ष्य[७९] क्रमशः ६०, ४० और २० धनुष तथा बड़े बाणों का लक्ष्य[८०] क्रमशः ४०, ३०, १६ धनुष (१ धनुष = ४ हाथ) उत्तम, मध्यम और अधम कहा गया है। आधे अंगुल मोटे लोहे की चादर को अथवा एक साथ २४ चमड़ों का जो धनुष बाण से वेधन करे उसे दृढ़ बेधी कहा गया है।[८१] सामने से आते हुए बाण को जो अपने बाण से काट दे, वह 'बाण बेधी' कहा जाता था।[८२] किसी लकड़ी पर घोड़े की पूँछ के बाल से मक्खी को बाँधकर उस काष्ठ को दूर से घुमाता रहे और उस मक्खी को जो वेध सके वह 'धनुर्धर' कहा गया है।[८३] धनुर्वेद का मत है कि अभ्यास बना रहे, एतदर्थ, शिक्षोपरान्त प्रतिवर्ष विजयदशमी के बाद दो मास शस्त्राभ्यास करना चाहिए।

प्राचीन सिक्कों (मुद्राओं) पर बाण का अंकन- प्राचीन मुद्राओं पर बाण का अंकन मिलता है। उदाहरणार्थ - आहत सिक्कों के पुरोभाग पर बाण का अंकन हुआ है।[८४] यूनानी शासक अपोलोडोट्स के

ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर अपोलो को दोनों हाथों से बाण पकड़े दिखाया गया है।[८५] 'स्ट्रेटो प्रथम'[८६] के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर अपोलो के दोनों हाथ में तथा 'डायनिसस'[८७] के ताम्र सिक्कों पर अपोलो दोनों हाथों से बाण पकड़े हुए अंकित है।

शक शासक मोजेज़ के ताम्र सिक्कों के पुरोभाग पर चढ़ी हुई प्रत्यंचा पर बाण अंकित हैं।[८८] गुप्त शासक समुद्रगुप्त के धनुर्धारी प्रकार के सिक्कों पर राजा के दाहिनें हाथ में बाण का अंकन है।[८९] इसी प्रकार इस वंश के चन्दगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम, स्कंदगुप्त, घटोत्कचगुप्त, नरसिंहगुप्त तथा अन्य गुप्त-राजाओं के सिक्कों पर बाणों का अंकन मिलता है।[९०]

पुरातात्त्विक उत्खनन से प्राप्त बाणाग्र- प्राचीन स्थलों के पुरातात्त्विक उत्खनन से विविध धातुओं के बाणाग्र प्राप्त हुए हैं जो निम्नवत हैं -१. लोहे के बाणाग्र २. हड्डी एवं हाथी दाँत के बाणाग्र।

१. लोहे के बाणाग्र : पुरातात्त्विक उत्खननों में अनेक स्तरों से विभिन्न कालों के लोहे के बाणाग्र प्राप्त हुए हैं -

१. कौशांबी (६०० ई.पू.-५८० ई.पू.)[९१]

२. श्रावस्ती (६०० ई.पू.-१०० ई.पू.)[९२],

३. सोनपुर (६०० ई.पू.-२०० ई.पू.)[९३]

४. अतरंजीखेड़ा (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल)[९४]

५. जखेड़ा (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल)[९५]

६. उज्जैन (६०० ई.पू.-३०० ई.पू.)[९६],

७. हस्तिनापुर (६०० ई.पू.-३०० ई.पू.)[९७]

८. तुमैन (६०० ई.पू.-१०० ई.पू.)[९८],

९. सानूर (३०० ई.पू.-२०० ई.पू.)[९९]

१०. प्रभास पाटन (६०० ई.पू.-१०० ई.पू.)[१००]

११. पौनार (१०० ई.पू.-३०० ई.पू.)[१०१] आदि।

२. हड्डी एवं हाथी दाँत के बाणाग्र : विभिन्न स्थलों से लोहे के बाणाग्रों की भाँति हड्डी एवं हाथी-दाँत से निर्मित बाणाग्र भी प्राप्त हुए हैं -

१. कौशांबी (६०० ई.पू.-२०० ई.पू.)[१०२]

२. सोनपुर (६५० ई.पू-१०० ई.पू.)[१०३],

३. अतरंजीखेड़ा (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड काल)[१०४]

४. तमैन (६०० ई.पू.- प्र. शता. ई.)[१०५],

५. पाटलिपुत्र (६०० ई.पू.-५०० ई.पू.)[१०६]

६. नगरा (३००-१०० ई.)[१०७],

७. भड़ौच (लगभग ३०० ई.पू.)[१०८]।

पंखयुक्त बाण : प्राचीन साहित्य में पंखयुक्त बाणों का उल्लेख मिलता है। इन पंखों को बाणों के

चौथाई भाग में कसकर बाँध दिया जाता। हापकिंस के अनुसार श्येन या बाज, राजहंस तथा सारस के पंख प्रमुख रूप से लगाये जाते थे। रामायण में गिद्ध के पंखों के प्रयोग का उल्लेख है।[१०९] शिव धनुर्वेद में काक, हंस, शशाद, मत्स्याद, क्रौंच, मयूर, गिद्ध आपैर कुक्कुट के पंखों के प्रयोग का वर्णन मिलता है। इन पंखों की औसत लम्बाई छः अंगुल अर्थात् पाँच इंच होनी चाहिए, किन्तु सींग से निर्मित धनुष के लिए प्रयोग में आने वाले बाणों में दस अंगुल अर्थात् आठ इंच का पंख लगा होना चाहिए।[११०] कालिदास ने भी बाणों में बँधे हुए पंखों का उल्लेख किया है।[१११] पाँचवीं शताब्दी ई. के एक मृण्मयी फलक में धनुर्धारी स्त्री का चित्रण है जो दाहिने हाथ से पीठ पर बँधे तरकस से पंखयुक्त बाण खींच रही है।[११२]

सन्दर्भ-सूची

१. ऋग्वेद, १०.१८.९
२. वैदिक इंडेक्स, १.३८८
३. अथर्ववेद, ११.९.१
४. यजुर्वेद, १६.२९
५. अष्टाध्यायी, ४.४.५८, तलनीय-वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत, पृ. ४१६
६. आर.सी. मजूमदार : 'क्लासिकल अकाउंटस् ऑफ इंडिया', पृ. २३०
७. महाभाष्य, ६.२.३८
८. मालिविकाग्निमित्रम्, अनु. भटनागरनाथ, अध्याय- ५, पृ. १८२
९. रघुवंश, ७.५७
१०. ऋग्वेद, १०.१८.९
११. गायत्रीनाथ पंत : 'इंडियन आर्चरी', पृ. १४९-९४
१२. ऋग्वेद, ३.२०.१५
१३. अर्थशास्त्र, २.३४.१८
१४. पी.सी. चक्रवर्ती, दि आर्ट ऑफ वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ. १५८
१५. रघुवंश, ४.४१
१६. धनुर्वेद संहिता, १.६४-६५
१७. जीवा निगम ३, पृ. १५, १८३
१८. जीवा निगम, पृ. १८३
१९. प्रो. लल्लनजी सिंह : 'रामायणकालीन युद्धकला', पृ. १७६
२०. विसेंट ए. स्मिथ : क्वायंस आफ दी ऐंश्येंट इंडिया-कैटलॉग ऑफ दी क्वायंस इन दि इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता, जि. १, पृ. १४० (लघुनाम-आई.एम.सी.)।
२१. वही, खण्ड- १, पृ. ९
२२. आर.वी. ह्वाइटडेट : 'कैटलॉग ऑफ क्वायंस इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, वाराणसी (१९७१), खण्ड- १, सि.स. ३६३, ६४, पृ. ५१ (लघुनाम-पी.एम.सी.)।
२३. वही, फलक १०, सि.स. ३५, खण्ड- २, पृ. १०३
२४. आई.एम.सी., खण्ड- २, पृ. ५१

२५. ए. कनिंघम, क्वायंस ऑफ दि इंडोसीथियंस, शाकाज एण्ड कुषाणाज, पृ. ४७-४८
२६. पी.एम.सी., जिल्द- १, खण्ड- २, पृ. १५३
२७. आई.एम.सी., पृ. ८१
२८. अनंत सदाशिव अल्तेकर : गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ. ३८
२९. जे. एलन, कैटलॉग ऑफ दि क्वायंस ऑफ दि गुप्त डाइनेस्टीज एण्ड ऑफ शशंक किंग ऑफ गौड, पृ. १७
३०. अनंत सदाशिव अल्तेकर, पूर्वोल्लिखित, पृ. ७५
३१. वासुदेव शरण अग्रवाल : ब्राह्मनिकल, इमेजेज इन मथुरा आर्ट, फलक १४, चित्र ३, पृ. १२४
३२. सतीश चन्द्र काला, भारतीय भृत्तिका कला, फलक ४८।
३३. जे. मार्शल : जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (जे.आर.ए.एस.), १९०८, पृ. १०९६
३४. जी.सी. हार्ले : गुप्त स्कल्पचर, चित्र १६, पृ. ३५-३६
३५. ए. कनिंघम, द स्तूप ऑफ भरहुत, फलक ३२।
३६. ए. कनिंघम, दि भिलसा टोप्स, पृ. २१७, जे. मार्शल गाइड टू साँची, फलक ४, ५, २६, २७
३७. सी. शिवराममूर्ति : अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम, फलक १०।
३८. गायत्री नाथ पंत : 'इंडियन आर्चरी', पृ. २०५-०६
३९. मैक्रिंडल : ऐंश्येंट इंडिया एज डिसक्राईब्ड बाई मैगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ. २२०-२१
४०. ए. कनिंघम : पूर्वोल्लिखित, पृ. २१६
४१. ए. कनिंघम : 'क्वायंस ऑफ दि इण्डो-सीथियम, शकाज एण्ड कुषाणाज, १९७१, पृ. ६३
४२. अर्थशास्त्र, १०.५
४३. पी.सी. चक्रवर्ती : दि आर्ट ऑफ वार इन ऐंश्येंट इंडिया, पृ. १५६
४४. अग्निपुराण, १००.३७
४५. शतपथ ब्राह्मण, ६.१५.२.१०
४६. गायत्री नाथ पंत : पूर्वोल्लिखित, पृ. १६९-७१
४७. आर.सी. मजूमदार : दि क्लासिकल अकाउंटस् ऑफ इंडिया, पृ. २३०
४८. वही, पृ. २०८
४९. अग्निपुराण, २४९.३६
५०. नीति प्रकाशिका, १.१७
५१. शुक्रनीति, १
५२. ऋग्वेद, ६.७५.११
५३. खंडहाल जातक, ५४२, सरभग जातक, ५२२।
५४. अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य।
५५. अर्थशास्त्र, २.१८
५६. अग्निपुराण, २४९.४
५७. अग्निपुराण, ३४३.४-१०

५८. ए.एच. लौंग हर्स्ट; पूर्वोल्लिखित, फलक २९-अ।
५९. मेजर आर. सी. कुलश्रेष्ठ : भारतीय सैन्य विज्ञान, पृ. १४६
६०. गायत्री नाथ पंत; स्टडीज इन ऐंश्येंट वेपंस एण्ड वारफेयर, पृ. ६३
६१. अर्थशास्त्र, २.१८
६२. ए. कनिंघम, दि स्तूप ऑफ भरहुत, तुल. गायत्री नाथ पन्त, पूर्वोल्लिखित, पृ. ६७
६३. गायत्री नाथ पंत, पूर्वोल्लिखित, पृ. ६७
६४. धनुर्वेद संहिता, खण्ड- १, श्लोक- ७९।
६५. वही, श्लोक- ७८।
६६. सी. शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स, तुल. गायत्री नाथ पन्त, पूर्वोल्लिखित, पृ. ६२२
६७. अतिष्ठदालीढ़ा विशेष शोभिना वपुः प्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः, रघुवंशम्।
६८. के. कृष्णमूर्ति, पूर्वोल्लिखित, पृ. २०५
६९. अग्निपुराण, २४९.१०-१८, तुल. गायत्री नाथ पन्त, पूर्वोल्लिखित, इंडियन आर्चरी, पृ. २३८
७०. वही, २४९.११
७१. वही, २४९.१८
७२. धनुर्वेद संहिता, महर्षि वसिष्ठ विरचिता, अनु. पुरनिमा राय, नई दिल्ली, श्लोक- ८५, पृ. २३
७३. वही, श्लोक- ८६।
७४. वही, श्लोक- ८७।
७५. वही, श्लोक- ८८, पृ. २४
७६. वही, श्लोक- ८९, पृ. २४
७७. लक्ष्यं चतुर्विध ज्ञेयं स्थिरं चैव चलन्तथा।
चलाचलं द्वयचलं वेधनीयं क्रमेण तु।। वही, धनुर्वेद संहिता, श्लोक- ९५, पृ. २६
७८. प्रथमं वामहस्तेन यः श्रमं कुरुते नरः।
तस्य चापक्रिया सिद्धि रचिरादेव जायते।। वही, श्लोक- १, पृ. २८
७९. वही, श्लोक- ६।
८०. वही, श्लोक- ७।
८१. वही, श्लोक- ५०।
८२. वही, श्लोक- ५४।
८३. वही, श्लोक- ५५।
८४. आई.एम.सी., पृ. १४०
८५. पी.एम.सी., खण्ड- १, सि.सं. ३२२, पृ. ४६
८६. वही, पृ. ५१
८७. वही, खण्ड- १, फलक- ७, सिक्का संख्या ५२०, पृ. ६४
८८. पी. एम. सी., फलक १०, सि.सं. १७, १८, पृ. १००
८९. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, पूर्वोल्लिखित, पृ. ३८

९०. वही, पृ. ६३, ११७, १८५, १८८, १९०, १९२, १९५-९६, १९८।
९१. जी. आर. शर्मा, एक्सकेवेशंस ऐट कौशांबी, फलक ४०-४१, ४५-४६।
९२. के. के. सिन्हा, एक्सकेवेशंस ऐट श्रावस्ती, पृ. ६८
९३. बी. पी. सिन्हा एण्ड बी. एस. वर्मा, सोनपुर एक्सकेवेशंस, फलक ४४, पृ. १२८-१२९
९४. आर.एसी. गौड़, एक्सकेवेशंस ऐट अतरंजीखेड़ा, फलक ४७, १-८, पृ. २१९-२२
९५. आई. ए. आर., १९७४-७५, फलक- ३५, पृ. ४४
९६. वही, १९, ५६-५७, पृ. ३६
९७. ए. आई. सं. १०-११; १९५४-५५, चित्र- ३१, १९, पृ. ९९
९८. आई. ए. आर., १९७२-७३, पृ. १६
९९. ए. आई. सं. १५, १९५९, चित्र- ११, पृ. ३७
१००. आई. ए. आर., १९५६-५७, फलक- ३६-अ, पृ. २७
१०१. एस. वी. देव एण्ड एम. के. धवलिकर, पौनार, फलक- ३१, चित्र- २९, ९, १४, १५, १६ पृ. ९४-९५
१०२. जी. आर. शर्मा, पूर्वोल्लिखित, फलक- ३८, पृ. ४७-५६
१०३. बी. पी. सिन्हा एण्ड बी. एस. वर्मा, पूर्वोल्लिखित, फलक- ४६, १-२३, पृ. १३०-१३१
१०४. आर. सी. गौड़, पूर्वोल्लिखित, फलक- ४४, ११८, पृ. २१७, ४१२-१४।
१०५. आई. ए. आर. १९७२-७३, पृ. १६
१०६. बी. पी. सिन्हा एण्ड ललित आदित्य नारायण, पाटलिपुत्र एक्सकेवेशंस, १९५६-५७।
१०७. आई. ए. आर., १९६३-६४, फलक- ६अ, पृ. १०
१०८. वही, १९५९-६०, फलक- २०अ, पृ. १९
१०९. रामायण, युद्धकाण्ड, ९९.२९
११०. धनुर्वेद संहिता, खण्ड- १, छन्द ६०-६१।
१११. रघुवंशम्, ३.५६
११२. गायत्री नाथ पंत, पूर्वोल्लिखित, पृ. २०५-०६

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

Construction of A Rectilinear *Śyenacit*

Moumita Mondal*

Baudhāyana, Āpastamba and othe *Śulbakāras* have considered the construction of two categories of falcon-shaped fire-altars. The first category in which the body, the wings and the tail are rectilinear (squares and rectangles), and the second category in which the wings are curved, the tail is spread out, and the body and the head have their corners cut off. In the latter case the shape of the altar more closely resembles the falcon.

Here the first type of simple rectilinear *syenacit* is discussed.

Bricks : The following four types of square bricks are used for the construction:

$\mathbf{B_1}$ - one-fourth brick *(Caturthi)* - 30 x 30 sq. *aṅgulas.*

$\mathbf{B_2}$ - one-fifth brick *(Pañcamī)*- 24 x 24 sq. *aṅgulas.*

$\mathbf{B_3}$ - one-sixth brick *(Ṣaṣṭhī)*- 20 x 20 sq. *aṅgulas.*

$\mathbf{B_4}$ - one-tenth brick *(Daśamī)*- 12 x 12 sq. *aṅgulas.*

Measurement of the fire-altar : In this fire-altar, the body (alman) is a square and the two wings and the tail are rectangles. To set up these rectilinear figures of required areas on the ground, one can use either a cord or a bamboo rod and follow the rules of construction of such figures. For measure- ment with a bomboo rod with a hole at either end and at the middle.

The body is a square of 4 sq. *puruṣas*, that is, of side 2 *puruṣas* or 240 *aṅgulas*. At the middle of its southern and northern side, a rectangle each, measuring 144 *aṅgulas* x 120 *aṅgulas*, with the longer side drawn south-north, is set up; this will represent the south and the north wing. A rectangle of 132 *aṅgulas.* x 120 *aṅgulas.*, with the longer side towards east-west, attached to the middle of the western side of the body, the tail (Fig.1). The area of the altar is:

$\frac{1}{120^2}\left[240^2 + 2\times144\times120 + 132\times120\right] = 7\frac{1}{2}$ sq. *puruṣas* as required here.

Placement of bricks in the first layer : Starting with the south wing, 4

* Assistant Professor, Department of Sanskrit, Krishnagar Govt. College, Nadia, West Bengal

B_2 bricks flanked on either side by 2 B_4 bricks are placed in a row, east-west, at a distance of 40 *aṅgulas*. from the end of the wing (Fig. 1). *Dvärakànítha explains purusatriya- velayām as calvarimsadangulapramäṇa-velaydmatitayam*. Then 8 B_1 s are placed in two rows, leaving a space which can be filled exactly by 18 B_3 bricks. In this way, 34 bricks can be placed in the south wing (evam pakse calustrimladisfakah). The northern wing is covered in the same way starting with the northern end.

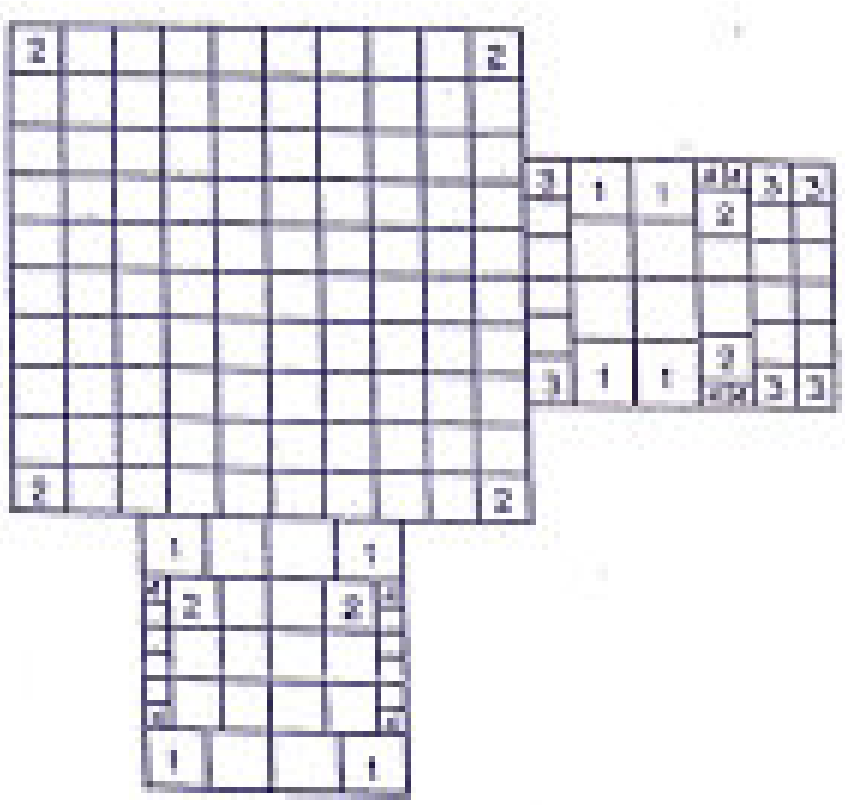

Fig. 1. Arrangement of bricks in the first layer of a raturaira tenacit (northern wing not shown).

In the tail, as per direction of the rule, 8 B_1s can be placed, 4 on the eastern and 4 on the western side, 12 B_4 S .6 on the southern and 6 on the northern side, and 12 B_2 s in the remaining space in the middle, accounting for 32 bricks (pucche dvätrimsat D.). Rule 8.12 of Baudhāyana Śulbautras also directs the filling up of the body with B_2 bricks, and clearly enough 100 B_2 s can be accommodated in a square 240 x 240 sq. *aṅgulas*.

(atmani fatam-D.). The number and types of bricks used in different parts of the fire-altar are shown in Table 1.

Table 1. Bricks in different parts of the *citi*-first layer.

Part of the citi	Brick type				Total
	B	B	B	B	
Body	–	100	–	–	100
Wings	16	8	36	8	68
Tail	8	12	–	12	32
Total	24	120	36	20	200

Placement of bricks in the second layer : The arrangement of bricks is shown in Fig. 2. After leaving 48 *aṅgulas*. at the end of the southern wing, 3 B_3s are placed at the western and the eastern side each towards north, and 3 B_3s in the middle; the space (that is, two rows, south-north) in between these three rows is filled with 4 $B_{1\ S}$ explains this placement as follows.

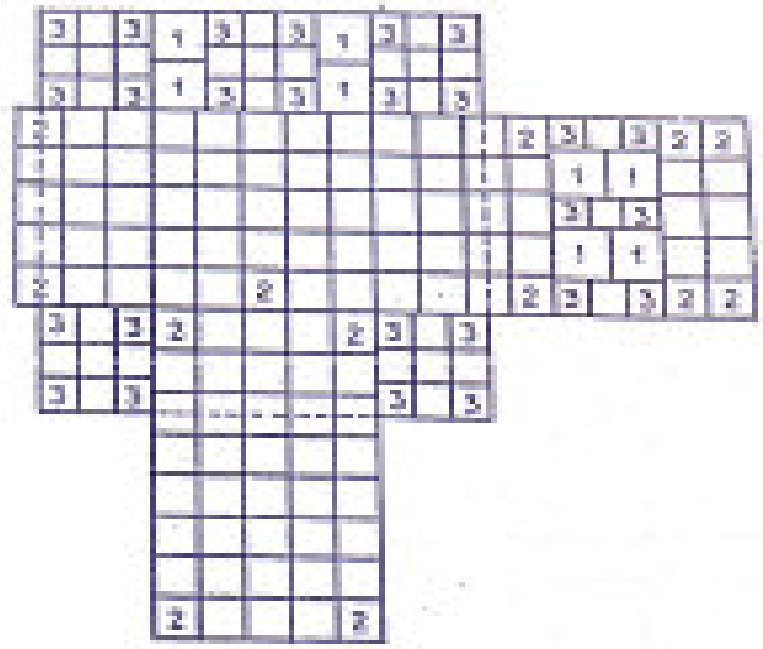

Fig. 2. Arrangement of bricks in the second layer of a caturatra fyenacit (north wing not shown).

In the body, 9 B_3s bricks are placed in a square 60 x 60 sq. *aṅgulas*. at each of the two western corners. On the eastern side of the body, 9 B_3s, arranged in a square, are placed in each of the two eastern corners, one such set of 9 B_3s in the middle, and the two rows east-west, in between these 3 sets are filled by 4 B_1 bricks, 2 in each row. The remaining space is covered with B_2 bricks. Notice that the overlapping of edges of the bricks in the two layers has been clearly avoided. The arrangement of different types of bricks in different parts of the fire-altar is shown in Table 2.

Table 2. Bricks in different parts of the citi-second layer.

Part of the *citi*	Brick type			Total
	B	B	B	
Body	4	55	45	104
Wings, including brick partly covering body.	8	40	18	66
Tail, including brick partly covering body.	–	30	–	30
Total	12	125	63	200

In that way Boudhayana and other *Śulbakāras* explain properly about a type of rectiliner *Śyenacit*.

Bibliography:

- Bag. A. K. Mathematics in Ancient and Mediaeval India, Chaukhamba Orientatalia. varanasi, 1979.
- Dutt, B. B. The Science of Sulba a Study In early Hindu Geometry, Calcutta University, 1932.
- Kulkarni, R. P. Geometry According to sulbasutra, Vaidika Somsodhana Mandala. pune, 1983.
- Satya prakash and Sharma, R. S. Apstamba sulbasutram Critically edited with English Translation, The Research Institute of Ancient scientific studies, new Delhi, 1968.
- Satya prakashan and Sharma R. S, Boudhayana Sulbasutram Critically edition with English Translation, The Research Institute of ancient science Student, New Delhi. 1968.
- Satya Prakash, Founder of Sciences in Ancient India, the Research Institute of Ancient scientific studies, New Delhi, 1963.

———————————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

Practice of Rejuvenation in Ancient Indian Medical Science : A Study

Dr. Avijit Mandal*

Introduction

The word 'Rasayana' has a wide- spread implication in the context of ancient Indian medical science. It is known as 'geriatrics' in modern times which prevents disease and ageing in old people. Old age is synonymous with certain disabilities, so if possible it should be delayed-this realisation is behind this therapy. The process has gone through numerous experiments. Organic material, minerals, and gems have been used to achieve the expected result, painful and lengthy treatment has been applied and finally it becomes a regular feature of ancient Indian medical science. Rasayana or rejuvenation is an important part of the eightfold (astanga Ayurveda).The Ayurvedic concept of Rasayana is very interesting. It is a therapy that is claimed to be able to alter the normal physical processes like ageing. For this it is called alterative therapy also.

Importance of Rejuvenation in Caraka Samhita

The Caraka Samhita, Cikitsasthana starts with Rasayana pada. There the word rasayana is described as the medicine which is used by a healthy person to increase his physical strength(1). In a wider sense it is administered to control the ill effects of advancing age and to prevent diseases(2). This clearly points to the fact that Rasayana is a rejuvenating medicine which belongs to the category of a tonic or a stimulant which invigorates a person's decaying health. It gives him more energy, beauty, strength, vitality and virility. It also enables a person to retain youth longer,Which means he is able to enjoy the pleasures of life for a longer period. Even an otherwise healthy person can opt for this therapy to increase his vitality. The effect of rasayana is felt by acquiring better "dhatus" which helps control ageing and prevent diseases. Youth is the time for enjoyment so everybody will be eager to prolong this stage. The concept of rejuvenation was not unknown in the Vedas even. There are many prayers for retaining youth and accounts of rejuvenation(3). The

* Assistant Professor, Department of Sanskrit, Vivekananda College for Women, Baisha, Kolkata.

sage Cyavana got back his youth by the grace of Asvins(4), so did Ghosa.

Practice of 'Rasayana' in Puranic period

In the puranic age, the story of king Yayati is quite well known. He exchanged his old age with his son Puru's youth. It proves that from time immemorial, earthly pleasures beckoned men, sage and king alike, all fell for it. It establishes the fact that a continuous tradition of rejuvenation as a therapy was in practice in ancient India. It is curious to note that amrta or nectar, the heavenly beverage, if believed to have the power to stop ageing and death and give unbelievable beauty, strength, wellbeing etc. So can we call it the first known rasayana which lured the gods and the demons alike so much that they fought over it? Caraka Samhita clearly states that rasayana gives longevity, memory, intellect, health and youthfulness and much more.(5)

Impact of Rejuvenation or 'Rasayana'

The application of rasayana was no easy matter. For this reason it was considered an unusual thing. It required utmost care and super expertise on the part of the physician to administer the therapy. On the other hand, the patient had to be mentally and physically prepared to endure the severe treatment. In Vedas and Puranas, such coveted status was obtained by the grace of the gods but we may assume that the boons were nothing but specialized treatment. This is not totally improbable because in these cases Asvins, the divine physicians, were involved. We know that gods were named 'tridasa' as they always remained in the third stage (i.e. youth) of life. We may guess that the gods never grew old or lost their beauty and strength because they were under the rasayana therapy, supervised by the Asvins who were very popular for this (6). Even the great sages availed of this coveted therapy to fight ageing ,loss of memory and physical strength (7). The word ‘rasayana’ may be analysed as rasa+ayana i.e. to bring in stimulant to the decaying body.

Old age is synonymous with disease, infirmity, slowness weakness and dependence. This is dreaded by all. Rasayana therapy is administered to restrain the degeneration of the body in old age. Two methods of rasayana therapy is described in Caraka Samhita - Kutipravesika and Vatatapika. Kuti was a special type of chamber where a person, intending to undergo this treatment would be admitted to go through various types of cleansing measures like oleation, sudation etc. This would prepare his body for the coming session of severe therapies. There were precise description of the Kutis - its structure, atmosphere, things to assembled etc. A short stay must precede the actual therapy to purify the patient mentally and physically. After the application of the medicine, drastic and very painful physical

changes occur. But at the end, the patient emerges with a new body and increased vigour. Not each of the patient could endure such a painful treatment. For them vatatapika method of therapy is prescribed.

In Susruta Samhita, Cikitsasthana, ch. 29, we find a detailed description of such a therapy using Soma extract. The process was most complicated and painful, spreading over almost four months, during which the recipient of the therapy passed through the shadow of death to come out rejuvenated, endowed with long life, unparalleled beauty, physical prowess and mental ability.

In Caraka Samhita many concoctions are prescribed but it is to be noted that abhaya i.e. haritaki (Terminalia chebula, Retz) and amalaki (Embelica Officinalis, Gaertn) were co-nsidered very useful in the preperation of such medicines. The first chapter of the Rasayana pada of Cs ci is named 'abhayamalakiya'. While describing the properties of these two fruits it is mentioned in the Cs that haritaki gives longevity and nourishment, it is absolutely anti-ageing to and makes a person content. The same properties are found in amalaki also. These two are compared to nectar (amrtakalpa).

Another component of equal potency is bibhitaka (Terminalia beleria, Roxb).Actually a mixture of these three fruits are considered very beneficial for keeping positive health. The mixture is called Triphala rasayana which is highly praised in Cs, ci, ch. 3. Some other concoctions mentioned in the Cs are brahma rasayana, cyavanaprasa, haritakiyoga, amalakaghrta, amalakavaleha, bhallataka ksira and the like. In these preparations several other plants, fruits and herbs are used. Among these, prominent are guduci (Tinospora cordifolia, Willd), sankhapuspi (Convovulus pluricaulis, Choisy), jivanti (Leptadenia reticulate, W & A), patha (Cissampelos pareira, Linn), mandukaparni (Centella asiaticam Linn), bhallataka (Semacarpus anacordium,Linn), yastimadhu (Glycirrhiza glabra, Linn), goksura (Tribulus terrestris, Linn), suntha (Zinziber officinale, Roscoe), pippali (Piper longum, Linn) along with red sandalwood, honey and clarified butter (ghrta).

Sometimes metals were added to increase the potency of the concoctions. Iron, gold, silver and copper were mostly used. Another substance which was considered to contain wonderful vitalizing property was Silajatu. Regular intake of this sticky substance, found in the mountainous region, along with appropriate accompaniments like milk, honey etc was highly beneficial for the body. It was believed to cure any disease.

In this context, the famous medicine Cyavanaprasa may be given

special importance because it is considered an excellent vitalizer even today. Detailed recipe of Cyavanaprasa is given in Cs ci 1.1.63-69 and other texts. It is also claimed that this concoction rejuvenated the great sage Cyavana(8). Many pharmaceutical houses are doing excellent business on a modern version of this product which claims to contain metal powders also.

It is however categorically mentioned that this complicated therapy could malfunction any time. So there was a risk involved. This seems to be a statutory warning of sorts. After all altering the normal stages and conditions of the body can produce severe problems at any point of time. To treat such cases, the therapy must be stopped at once and then the treatment of the reaction should start.

There is an interesting theory in Cs Rasayana pada. It is described as Acara rasayana. Here Acara or holistic life style is stated to act like a powerful rasayana drug which gives good health and enhances mental strength. Such person are considered 'nityarasayana' (one who undergoes rasayana therapy continuously Cs ci 4. 30-34)(9). As this therapy is very powerful, it is mandatory to purify the body and mind before application. Otherwise full benefit of this therapy is never obtained.(10) On the other hand this treatment is successful when good conduct, power of observation and unwavering intellect prevail in a person(11). This therapy can be performed at any age- so says AHr. But suitable accompaniment should be chosen according to the constitution, habit etc of the patient(12). For this reason, expert physician must be engaged.

Conclusion

In recent time a spurt of demand for maintenance of good health is noticed. The pressure of rat race is telling upon the health of executives in every field. So management of positive health has become a priority. For this, the concept of health resort, spa, specialized massage centres, relaxation studios have become the 'in' thing. All such centres boast of applying Ayurvedic healing methods to revitalize the drooping spirit and fatigued body. It is also a fact that the craze for rejuvenation has produced a class of frauds who is making money, selling spurious medicines and so called magic potions. But generally speaking, the entire world has accepted that ancient Indian medical system practised the formula of rejuvenation with success and everyone is eager to revive the popular method. This craze has created a wide market and the concept of rejuvenation is being commercialized in a shameless manner. I hope that the Ayurvedic community will sit up and come forward to provide authentic rejuvenation therapy through proper researches and practices.

Abbreviation:

Astanga Hridayam Uttara sthana : AHr. (U)

Caraka Samhita Cikitsasthana : Cs. Ci

Susrut Samhita : Su.

Bibliography

- Astanga Hridayam, Vol.- 3, Translated by Prof. K.R. Srikantha Murthy, Krishnadas Academy, Varanasi, 2nd ed. 1997.
- Caraka Samhita, Edited by Dr. Gangasahay Pandya, part- 2, Chowkhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi, 5th ed., 1997.
- Susrut Samhita, Vol.- 2, Chowkhamba Sanskrit studies, Vol.- XXX, Chowkhamba Sanskrit series office, Varanasi , 1996.
- Ayurveda in Classical Sanskrit literature, Papyrus, Calcutta, Dec. 2004.

———————

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

Similarities between Russian and Sanskrit languages : A linguistic analysis

Utkarsh Dixit*

Just as the diplomatic relations between Russia and India are very strong, there is the relationship between the Russian and Sanskrit languages. Sanskrit (Indian Language) and Russian language are very similar. Although these two languages are spoken in very different geographical areas with Low-contact regions, Russian and Sanskrit speakers share many surprising similarities in Vocabulary and Grammar.

The main source of these similarities comes from the shared history of these two languages; Both Russian and Sanskrit are members of the Indo-European language family, a vast umbrella that includes all Slavic, Germanic, Celtic, Romance, Indo-Iranian and Hellenic languages groups as well as countless extinct languages in Eurasia.

But just because the two languages developed from Proto-Indo-European language does not mean they would share obvious similarities. With more than six thousand years of development, it is not surprising that etymologically similar words like English "two hundred" and Russian "Двести"(dvesti) seem at first glance to be almost completely unrelated.But even though Russian and other Balto-Slavic languages are often considered European languages, they are closely related to the Indo-Iranian languages of Southeast Asia, including Sanskrit.

Sanskrit is one of the earliest known Indo-European languages recognized by scholars. The oldest form of the language, Vedic Sanskrit was brought to South Asia by waves of migrants Traveling through modern Iran and Afghanistan into the Indian subcontinent. In the form of language found new landscapes, Sanskrit speaking people borrowed words for new encountered Plants and animals encountered from the cultures they met along the way. In addition to vocabulary, Sanskrit also adopted phonology and syntax from ancient times. Dravidian languages that dominated South Asia at that time.

In fact, the iconic Sanskrit retroflex consonants were developed through interaction with the Dravidian languages. By the middle of the

* Student, Centre of Russian studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi.

first millennium BCE, Vedic Sanskrit had evolved into Classical Sanskrit, The language is still used as a literary language in Hinduism. Meanwhile the linguist Dakshiputra Panini made a complete morphological analysis of Sanskrit, which served to Preserve the language even if it has lost colloquial use. The Russian language is a Slavic language that developed from the 11th century interaction Between the Old East Slavic languages and Old Church Slavonic, a liturgical language developed. Brought to modern Russia by Bulgaria and the Byzantine missionaries Cyril and Methodius. By the 13th century, regional variations had become increasingly noticeable in the form of Old East Slavic and divided into many different dialects. Many of these dialects have disappeared,while others have grown up. For Examples: The modern-day languages of Russian, Ukrainian, Belarusian, and Rusyn. In 988, the 'Kievan Rus' unified the region under a single political regime, which bound these dialects together in a closet space band. Thanks to their tightly bound history, these languages still Share a high level of mutual understanding over its history, the Russian language has borrowed Germanic languages such as Byzantine Greek, Gothic and Old Norse, and the Turko-Mongolic languages.

As Russia declared itself a European power in 1721, it began to borrow heavily from the French and English. In 1917, the Soviet Union began a program to reform and standardize Russian Millennials whose cultural and geographic isolation have allowed the language to take its modern form.

To separate and interact these two languages with other completely different languages. Because of these, there are major differences in the vocabulary and phonetics of these two languages. Despite vastly different histories, both Russian and Sanskrit are members of the satem. language groups and thus share remarkable similarities in their core vocabulary. Also, Russian and Sanskrit share some degree of grammatical similarity. Let's look at some special similarities in the areas of grammar, vocabulary and phonetics.

Based on the studies of many researchers, it is clear that Russian and Sanskrit are Both members of the Satem group of the Indo-European language family. In both languages separated and interacted with other completely different languages through millennia cultural and physical separation. As a result, the lexical phonetics of these two languages are very similar. Separate. Even though these languages are rarely spoken in very different parts of the world, Russian and Sanskrit speakers have a surprising amount of lexical and Grammatical Similarities. Both Russian and Sanskrit are Indo-European languages, which include all Slavic, Germanic, Celtic, Romance, Indo-Iranian and Hellenic languages and

many extinct Languages spoken across Eurasia. But only because these two languages have descended From Proto-Indo-European it is not guaranteed that they would have obvious affinities, more than 6,000 years of evolution, it is no surprise that etymologically equivalent phrases such as "two Hundred" in English and "Двести" ("Dvesti") in Russian appear to be almost entirely Unrelated in first appearance.

Thus, a persistent misconception persists in the minds of language enthusiasts that The relationship between sa is, consequently, a common misconception among language lovers. The relationship between Sanskrit and Russian is like the relationship between Sanskrit and Several other Indo-European languages, as described by William Jones in his third Annual Discourse before the Asiatic Society on the History and Culture of the Hindus, 1786.

However, although Russian and other Balto-Slavic languages are sometimes considered European languages are more closely related to Indo-Iranian languages Southeast Asia, such as Sanskrit. Both languages are very close and there is a similarity between.

They are in such proximity, as described by Dr Siddheshwar Verma in his note to Brought forward by Rajendra Rishi and his, that this correspondence cannot be a mere Occasion. This study shows how some linguistic facts lead to the conclusion that Sanskrit and Russian speakers lived nearby at some point in history. In addition, this article will run you through some linguistic affinities between Russian and Sanskrit on the basis of some Similarities in script, grammar, phonetics and lexicon between these two languages.

Grammatical parallels– A major similarity between these two languages is their simple syntax. Both Russian and Sanskrit have a strong tendency towards subject-object-verb sentence structure.However due to the declension system of each language, a simple SOV sentence can be Altered to change the emphasis of a given sentence.

Other similar grammatical features include grammatical gender and declension:

- Both languages have three grammatical genders (masculine, feminine and neuter).
- Russian uses six grammatical cases (nominative, genitive, accusative, dative, instrumental and locative) while Sanskrit adds ablative and vocative cases.

Vocabulary– Although both Sanskrit and Russian have borrowed a large amount of vocabulary from other languages. In other languages, there is much core vocabulary that has remained remarkably unchanged

through millennia of development. Diminutives in Russian are formed by adding-ik or -ka to the noun, for example:

dom (house), domik (small house); (chasha)(cup), Chashka(small cup/small cup).

In Sanskrit, diminutives are created by adding ka to the noun, for example, putra (son), putraka (small son), kun○ra (boy), kum○raka (little boy).

Here are a few examples of recognizable Russian-Sanskrit cognate words:

English	Sanskrit	Russian
God	(Bhag)	Бог (Bog)
Sky	(Nabhas)	Небо (Nebo)
Door	(Dvara)	Дверь (Dver')
House	(Dham)	Дом (Dom)
Mother	(Matr)	Мать (Mat")
Brother	(Bhrata)	Брат (Brat)
To carry, to take	(Bharati)	Береть (Beriot)
To burn, to shine	(Gharati)	Горить (Gorit)

Phonetics– Because Sanskrit is a classical language, it is difficult to get an accurate idea of how the language has been pronounced by native speakers. That being said, scholars have identified some similarities that it could share with Russian phonetics:

- When following i, u, r, or k, the dental sibilant /s/ becomes the retroflex/s/.
- Large consonant clusters are common and accepted.
- Both languages use semivowels /j/ and can freely use liquids /r/ and/l/ in consonant clusters.
- Both languages have tone-reduction features.
- Context-based sound changes across word boundaries.

Russian alphabet vs Sanskrit alphabet– Although not immediately obvious, both the Cyrillic alphabet used in Russian and the Devanagari script used to write classical Sanskrit are derived from the same writing system: the Phoenician Abjad, developed around 1050 BCE. Sanskrit adopted several alphabets during its development, originally using the Brahmi script, a modified consonantal script. Over time it evolved into the

Nagari writing system and finally Devanagari.

On the other hand, Cyrillic came to Russia through the Greek alphabet. As Cyril and Methodius travelled from Byzantium to Kievan Rus, they brought a modified version of the native Greek writing system to accommodate the sounds of Old Church Slavonic and eventually Russian. Greek and Latin, as well as other early Indo-European languages, are related to Sanskrit. There are many transitions in this language. There are three genders for nouns, pronouns and adjectives in Sanskrit: masculine, feminine and neuter; three numbers: singular, dual and plural; and eight grammatical cases: nominative, accusative, instrumental, miscellaneous, inflected, genitive, and locative, as well as an adverb.

For millennia, Russian and Sanskrit developed in almost complete isolation from each other. Nevertheless, they are linked historically, and their parallels provide a fascinating insight into language development. India and Russia are two different countries with different cultures and languages, but some strange similarities between them are visible out of nowhere. Take the name of Narad for example.

On this side of the Himalayas, he is remembered as one of the greatest sages in history and a devout follower of Lord Vishnu. A river and a mountain in Russia have been named Narada. Can the mountain and the river be named after the great sage Narada...? Well, throughout the paper, there is a vivid picture of how these two languages are similar to each other- not only lexically (numbering system, names of rivers, lakes and mountains, kinship terms, cognate verbs) but grammatically, sentences Phonetics are provided in terms of configuration as well. It also highlights how Sanskrit and Russia have remarkable similarities, indicating a strong connection between the two countries in ancient times.

This may explain why, compared to any other nation, Indians and Russians get along so well. Beneath the surface, both countries are sisters. With the development of linguistics and DNA research, more secrets will be revealed, giving us a more complete picture of the past.

References.

- Affinity of Russian and Sanskrit Mysterious Common Routes in Name of Relatives/Dr. Sonu Saini.https://www.researchgate.net/publication.
- Russian Similar to Sanskrit / Durga Prasad Shastri.
- Cognate words in Sanskrit and Russian/Dr. Indu Lekha/ Pratibha Prakashan.
- India and Russia linguistic & cultural Affinity/W.R.Rishi/Roma Publications.

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

कृषक जीवन आधारित उपन्यासों में शोषण की समस्या

रीना चौधरी*, प्रो. अनूप सिंह**

भूमिका – भारतीय संस्कृति में सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख स्थान रहा है। सामाजिक व्यवस्था में मानव का उत्थान और पतन दोनों होते रहे हैं। प्राचीन संस्कृति की वाहक इस सामाजिक व्यवस्था में न केवल स्त्री अपितु पुरुष भी प्रभावित रहा है। समाज का विकास और पतन दोनों इस व्यवस्था में साक्षी रहे हैं। परिणाम स्वरूप समाज का प्रत्येक वर्ग इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका, जिसमें किसान, मजदूर, श्रमिक, व्यापारी तथा कुलीन वर्ग भी सम्मलित रहा है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में इन सभी वर्गों के शोषण की समस्या का यथार्थ वर्णन परिलक्षित हो रहा है। जिनमें कृषक जीवन आधारित उपन्यासों में उनके शोषण की कहानी भी प्रमुख रही है। आलोच्य उपन्यासों में किसान के शोषण के साथ–साथ स्त्री एवं अन्य वर्गों के शोषण का यथार्थ अंकन प्रस्तुत करने का प्रयास रहेगा।

किसान केन्द्रित उपन्यासों में जहाँ विविध शोषित गतिविधियों का अंकन है तो वहीं शोषित वर्गों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक आदि परिवेश का वर्णन भी किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों के केन्द्रीय पात्र किसान की अनेक समस्याओं का न केवल विस्तार किया गया है, अपितु उनके उचित समाधान की योजना का प्रबन्ध भी करने का प्रयास किया गया है। सामान्यतः किसानी जीवन की समस्याओं में शोषण प्रमुख अभिशाप रहा है। तथा अन्य शोषण में दहेज की समस्या भारतीय समाज में एक बहुत बड़ी बीमारी की तरह है, तो वहीं ऋण समस्या का भी कृषक के जीवन से गहरा सम्बन्ध रहा है। स्वतंत्रता पूर्व जो शोषण जमींदार एवं साहूकारों द्वारा होता रहा वहीं स्वतंत्रता पश्चात् बैंकों द्वारा किया जा रहा है। आज भी भारतीय किसान बैंकों के कर्ज से उभरने के लिए प्रयासरत ही दिखाई देते हैं। शोषण का एक रूप अदृश्य भी रहा है, जिसमें किसान अपने भाग्य को दोष देता रहा है। कभी सूखा तो कभी बाढ़ से भी किसान का नाता पुराना रहा है। आजादी के बाद लिखे गये उपन्यासों में कृषक जीवन की इन्हीं समस्याओं का वर्णन प्रमुखता से किया गया ताकि समाज के बुद्धिजीवी लोगों तक उनके वास्तविक कठोर जीवन की त्रासदी का यथार्थ पहुँच सके और सरकार तथा प्रशासन उनके उचित प्रबन्ध में योजना लाकर समाज की मुख्य धारा में सम्मलित कर सकें।

मुख्य शब्द – शोषण, ऋण, समस्या, किसान, गरीब, गाँव, नारी आदि।

किसान जीवन केन्द्रित उपन्यासों में नारी के शोषण के विविध आयाम परिलक्षित होते हैं, जिनमें 'पानी के प्राचीर' उपन्यास में नीरू और संध्या अपने जीवन के बचपन में हैं लेकिन इसी बचपने में ही वे स्त्री–पुरुष के अंतर को समझने लगते हैं। एक पुरुष के हँसी को एक स्त्री के मुस्कान को देखकर लोग उसके

* शोधार्थी हिन्दी, राज ऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय, अलवर, राजस्थान
* प्राचार्य, राजकीय महिला महाविद्यालय बहादुरपुर, अलवर राजस्थान

नीयत से जोड़ते हुए कुछ भी सोचने लगते हैं। संध्या नीरू को हँसते हुए देखती है तो प्रश्न करते हुए कह देती है। ''हँसते क्या हो कसाइयों की तरह? आखिर तुम भी पुरुष हो ना और सुना है पुरुषों को औरतों की तकदीर से मजाक करना अच्छा लगता है।''[१] पुरुषों के द्वारा स्त्रियों की तकदीर से खेलना स्त्री शोषण की तरफ इशारा करता है। स्त्रियों के बारे में यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ पुरुषों को माया बनकर ठगती हैं। 'पानी के प्राचीर' उपन्यास में ही गेंदा जैसी स्त्री पात्र का भी नाम आया है। जिसका सबसे पहले जिक्र तो अनमेल-विवाह का किया गया और विधवा होने पर उसे मानसिक रूप से प्रताड़ित किया गया। अपने रांडपन से तंग आकर उस स्थिति को कोसते हुए कहती है। ''मैं रांड़ हूँ, लोग मेरा मुँह देखना पाप समझते हैं। शायद इसीलिए लोग कहीं जाते वक्त मुझसे बचने की कोशिश करते हैं और यदि संयोग से दिखाई पड़ गई तो लोग लौट जाते हैं और तो और अपना ही भाई मेरा मुंह नहीं देखना चाहता। एक चमाइन से भी मेरी हालत गई-गुजरी है।''[२] किसी का रांड हो जाना या विधवा हो जाना समाज की बनायी हुई व्यवस्था है। जिसमें रांड कह-कह कर उसे प्रताड़ित किया जा रहा है।

शोषित स्त्री का एक पक्ष 'मैला आँचल' उपन्यास में लक्ष्मी कोठारिन के रूप में सामने आया है। लक्ष्मी कोठारिन एक मठ में देवदासी है। हिन्दू धर्म व्यवस्था में साधू-संन्यासियों के रुकने, रहने का स्थान मठ कहलाता है। अध्यात्म में रमने वाले इन संन्यासियों को देवताओं के सबसे करीब समझा जाता है और कभी-कभी तो इन्हीं को ही देवता समझ लिया जाता है। इन्हीं तथाकथित देवताओं की सेवा के लिए एक देवदासी रखी जाती थी। लक्ष्मी कोठारिन के बारे में उस मठ में पाँच साल काम करते हुए एक व्यक्ति जो कुछ भी देखता है। उसे बताते हुए कहता है कि ''महंथ जब लछमी दासिन को मठ पर लाया था तो वह एकदम अबोध थी, एकदम नादान। एक ही कपड़ा पहनती थी। कहाँ वह बच्ची और कहाँ पचास बरस का बूढ़ा गिद्ध! रोज रात में लछमी रोती थी ऐसा रोना कि जिसे सुनकर पत्थर भी पिघल जाए।''[३] स्त्री शोषण का यह रूप समाज के खोखले चेहरे को दिखाता है। जिस संन्यास परम्परा में स्त्री से दूरी बनाकर रहने की सलाह दी गयी हो, उसमें इस तरह के छद्म वेश में स्त्री भोग किया जा रहा हो। इसी सोच को व्यभिचार माना जाता है इसीलिए महंथ को व्यभिचारी माना गया।

एक स्त्री के मन को पुरुषवादी समाज में महत्त्व नहीं दिया गया और जिन लोगों ने उनके विचार, उनकी आकांक्षा को बराबरी का दर्जा दिया। वैसे लोगों में मटरू और गोपी का नाम लिया जा सकता है। गोपी अपने भाभी के प्रति प्रेम करता है। उसकी भावनाओं का सम्मान किया लेकिन उसके माँ-बाप समाज में सम्मान बचाने, रिवाज न तोड़ने के डर से अपनी बहु का मानसिक शोषण करते हैं। इन्हीं परम्परा और संस्कार के झाले में उलझी हुई गोपी की भाभी अपने जीवन की असहायता को देखकर क्षुब्द होती है। उसके मन में चलता है कि गृहस्थ जीवन में शायद ऐसी विधवा का उपयोग लावन की ही तरह है, जिंदगी भर जलते रहना, जलकर गृहस्थी की सेवा करना, जिस सेवा के फल का भोग दूसरे भोगे और खुद वह राख होकर रह जाये।''[४] एक विधवा स्त्री को हमेशा सिर्फ सेवा करने के जिस रूप में देखा जाता है और वह स्त्री शोषण का कारण भी बनती है।

आधुनिक औद्योगिक शहरीकरण में स्त्रियों के शोषण की अलग-अलग स्थितियाँ स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में आया है। गाँव का हालचाल, सुख-दुःख कहता, सुनाता 'पानी के प्राचीर' उपन्यास में एक प्रसंग आता है, जिसमें शहर की स्त्री-स्थिति के बारे में गाँव वालों के मन की धारणा को दर्शाया गया है।

शहर में गुंडे बसते हैं और रात को लड़कियाँ अकेली नहीं निकल सकतीं।"[५] गाँवों से निकलकर शहर की तरफ रोजगार की तलाश में ग्रामीण समाज के वहीं लोग आये। जो गाँवों में खेती-किसानी करते हैं और शहर में मजदूरी। इन मजदूरों में स्त्रियाँ भी थी।

संजीव ने अपने उपन्यास 'फांस' में शिबू जैसे किसान को दहेज की समस्या से गुजरते हुए दिखाया है। शिबू वर की तलाश करके जब घर लौटता है तो उसकी पत्नी शकुन उससे पूछती है कि बेटियों की शादी के बारे में क्या बातचीत हुई। शिबू बताता है – "पूछते हैं लड़की कितनी पढ़ी-लिखी है और कितना दोगे? झूठ बोलना पड़ा, कॉलेज जा रही है। बाकी देने लेने की हैसियत भर उठा नहीं रखेंगे। कैसे कहते कि स्कूल दूर था, सो पढ़ाई छोड़वा दी? लेकिन पैसों के लिए उनका खुला मुँह कैसे बंद करते?"[६] ना जाने कितने ऐसे ही परिवारों की बेटियाँ, बहिने इन्हीं सामाजिक समस्याओं के कारण अपनी पढ़ाई छोड़ दे रही हैं।

भारतीय किसान का एक बड़ा वर्ग ऐसे विवाह के अवसर पर साहूकार या बैंक से ब्याज पर कर्ज लेता है और फिर इसे चुकाने के चक्कर में अपनी और अपने परिवार की स्थिति दयनीय बना लेता है। कभी-कभी लड़की पक्ष के लोग विवाह के दौरान वर या दूल्हे या उसके घर वालों की माँगों को पूरा नहीं कर पाते हैं तो लड़के पक्ष के लोग इसे अपना अपमान समझकर लड़की के साथ दुर्व्यवहार भी करते हैं। दहेज से सम्बंधित इस पक्ष को 'पानी के प्राचीर' उपन्यास में सुमेश पांडे की बड़ी बेटी के संदर्भ में दिखाया गया है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र नीरू अपनी छोटी बहन की शादी करने की जब सोचता है तो उसे अपने बड़ी बहन की याद ताजा हो जाती है। उसके बड़ी बहन की शादी के कुछ दिन बाद ही उसके माँ-बाप को संदेश मिलता है कि बेटी की तबीयत खराब है। उसकी बहन ससुराल से विदा कराके जब घर आयी तो उसकी तबीयत इतनी खराब रहती है कि वह चारपाई पर लेटी रहती है। कुछ दिनों बाद उसकी मृत्यु हो जाती है तो लोग कहने लगे कि उसके पति को खबर कर दो। यह सुनते ही उसकी माँ मना करते हुए कहती है- "ना ना, कोई मत जाना उस राक्षस के यहाँ, उमा मरते वक्त रो-रोकर एक बिनती कर गयी है मुझसे..... माई रे, मेरे मरने की खबर उस कसाई के घर मत भेजना.... खबरदार कोई मत जाना।"[७] इसलिए नीरू बहुत सोच-समझकर कदम उठाता है। उसे लगता है कि बिना दान-दहेज की शादी तो नहीं होगी इसलिए उसके शादी के लिए कुछ पैसे इकट्ठा कर लिया जाए।

इस उपन्यास में दहेज शोषण से सम्बंधित दो अन्य मामले भी देखने को मिलता है। एक सिंगापुरी जेंटलमैन के संदर्भ में जो अपनी बेटी की शादी के लिए मुँह माँगी रकम देने को तैयार रहता है। पहले वह घनश्याम तिवारी के घर जाकर शादी और दहेज की बात करता है। वहाँ से मना कर दिए जाने के बाद वह गाँव के मुखिया के पास जाता है। मुखिया अपने बेटे की शादी इतनी धूमधाम और दिखावे में करना चाहता है कि वैसी शादी पूरे गाँव में किसी की नहीं हुई हो। दहेज भी उससे ज्यादा कोई ना पाया हो। सिंगापुरी जेंटलमैन जितना दहेज घनश्याम तिवारी के बेटे के पीछे खर्च करना चाहते हैं। उससे कम में ही उनका काम मुखिया के बेटे से तय हो जाता है। दहेज से सम्बन्धित दूसरा प्रसंग 'गेंदा' के संदर्भ में आया है। 'गेंदा' का भाई दूसरों की इच्छाओं और माँगों को पूरा ना कर पाने की स्थिति में रहता है इसलिए अपने बहन की शादी एक बूढ़े व्यक्ति से कर देता है। दहेज की इसी समस्या ने उसे कम उम्र में ही विधवा बना दिया। 'गंगा मैया' उपन्यास में गोपी और मानिक की शादी के प्रसंग में दहेज की समस्या देखने को मिलता है। गोपी के पहली पत्नी के मर जाने के बाद दूसरी शादी करने की बातचीत में दुबारा दहेज का रूप दिखाई देता है।

भारत की आजादी से लेकर अब तक समाज के संरचना में काफी बदलाव हुए हैं। इसमे शक की कोई सम्भावना नहीं है लेकिन इस बदलाव के बावजूद जाति, धर्म, पितृसत्ता जैसी चीजें आजाद भारत के विकास में रूकावट पैदा की है। सामाजिक बदलाव लाने में उन लोगों की बड़ी भूमिका है जिन्होंने इन समस्याओं को समझा और इसे दूर करने के लिए प्रयास किया। अपनी सोच को आधुनिक सन्दर्भों के हिसाब से बदला। सामाजिक सन्दर्भों में दहेज, सामन्ती जीवन मूल्य जैसी कुछ एक समस्याएँ ऐसी हैं, जिन्हें दूर करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से काम करने की जरूरत है। दिनों के काम की गारंटी दी जाती है। 'फॉस' उपन्यास में संजीव ने वर्तमान योजनाओं के बारे में तमाम वर्तमान आयामों को दिखाने का प्रयास किया है। मनरेगा के बारे में किसानों को साहूकार किस नजर से देखते हैं ये इन पंक्तियों में देखने को मिलता है– ''मनरेगा ने किसानों को भ्रष्ट और कामचोर, आलसी बना दिया है। सौ दिन की गारंटी मजदूरी की सच्चाई क्या है?... इसी यवतमाल में एक ऐसा भी गाँव है जहाँ बाईस कृषक विधवाएँ हैं। वहाँ भी सांसद ने दीपावली के समय एक साड़ी और ५०० का नोट उन विधवाओं के हाथ में दे दिया। कुछ विधवाएँ कहती हैं– हमें साड़ी भी न मिली, कुछ कहती रहीं– साहब हमें तो पात्र भी नहीं माना गया, मगर ये आवाजें जाती हुई गाड़ी की धूल में समा गयी।''[८] निम्न आयवर्ग वाली हमारी ग्रामीण जनता अपनी बहुत सारी आर्थिक आवश्यकताओं के लिए सरकार और उसकी लोक–कल्याणकारी योजनाओं पर निर्भर है। ये योजनाएँ कोई एहसान नहीं हैं बल्कि भारत के एक आम आदमी का अधिकार है। आर्थिक समानता का वादा हमारे संविधान की भूमिका में ही किया गया है। लेकिन साहूकारों का ये व्यवहार इस व्यवस्था की वास्तविक दृष्टि को दिखाता है। इस दृष्टिकोण में सामान्यतः हमारे अन्नदाता को मुफ्तखोर और लालची समझा जाता है। व्यवस्था तो एक तरफ तमाम मध्यवर्ग और उच्च वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले सभी भारतीय भी इसी संकीर्ण मानसिकता से परिचालित हैं।

इससे जुड़ा एक मार्मिक प्रसंग 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में पढ़ने को मिलता है। रामप्रसाद नामक एक अनपढ़ पात्र जब ये जान पाता है कि उसके नाम बैंक में कर्ज है जो उसने लिया ही नहीं है तो उसके पैरों तले की जमीन खिसक जाती है– ''किसान क्रेडिट कार्ड योजना में किसान को साल भर में छह–छह मास के दो टुकड़ों में ऋण दिया जाता है...सूचना पत्र कह रहा था कि रामप्रसाद ने उसकी दो एकड़ जमीन पर जो क्रेडिट कार्ड बनवाया था और उस क्रेडिट कार्ड से उसने जो तीस हजार रूपये निकाल लिए थे, वह राशि उसे दिसंबर तक जमा करनी थी, लेकिन अभी फरवरी भी खत्म हो रही है और उसने वह पैसा जमा नहीं किया है। इसलिए यह रेवेन्यू रिकवरी सर्टिफिकेट जारी किया गया है और उसमें एक समय सीमा दी गई है। अगर उसने समय सीमा में बैंक जाकर पैसा नहीं जमा करवाया, तो कुर्की की कार्यवाही की जायेगी। 'कुर्की' शब्द कितना भयावह होता है, यह केवल और केवल भारत का छोटा किसान ही बता सकता है। चल संपत्ति की कुर्की में जब घर का सामान भर कर ले जाया जाता है, तो ऐसा लगता है मानो चौराहे पर नंगा कर दिया गया हो।''[९] यहाँ जिस रामप्रसाद की बात हो रही है उस बेचारे को तो मालूम भी नहीं था कि उसके नाम पर कोई ऋण भी है। एजेंटों ने बैंक कर्मचारियों से साठ–गाँठ करके रामप्रसाद और न जाने उसके जैसे कितने बेसहारा किसानों के नाम पर कर्ज निकाल कर अपनी जेबें भरीं। रामप्रसाद जैसे न जाने कितने किसान इस व्यवस्था के नंगेपन को न जाने कितने चौराहों पर अपने ऊपर ओढते हैं। ऋण व्यवस्था का स्वरूप समय के साथ बदलता गया, लेकिन किसानों को उससे कुछ लाभ मिला हो। प्रेमचंद का होरी

आज भी इन उपन्यासों में तमाम अलग-अलग नामों और तमाम अलग-अलग रूपों में घूम रहा है। अगर खेती से किसान अपनी आर्थिक जरूरतें पूरी कर पाता तो वो कर्ज के इस अनंत जाल में फँसने से बच जाता। लेकिन किसान की खेती उसकी बुनियादी जरूरतों को पूरा नहीं कर पाती। कई बार तो ये खेती उसके पेट भरने तक की पूर्ति नहीं कर पाती। ऐसे हालात में प्रायः किसान को ऋण लेना पड़ता है और यही ऋण उसके गले की फाँस बन जाता है।

बैंकिंग व्यवस्था के आने के सालों बाद तक भी किसान उस व्यवस्था से जुड़ नहीं पाए थे। एक किसान जो पढ़-लिख नहीं सकता वो भला कैसे बैंक के सभी कागजों से जुड़ी हुई प्रक्रिया को पूरा कर पाता। बहुत समय और संकोच के बाद जब किसान बैंकों से जुड़ पाए तब भी वो लेन-देन के लिए बैंक कर्मचारियों या अन्य शिक्षित लोगों पर आश्रित रहे। बैंकिंग का अर्थ होता है भरोसा लेकिन किसानों को इस व्यवस्था ने भी दोयम दर्जे का इंसान ही समझा। बैंक कर्मचारी किसानों के साथ भेड़-बकरियों जैसा व्यवहार करते रहे। इस विषय में संजीव अपने उपन्यास 'फांस' में लिखते हैं- "तो सुन लो! और उसने मुड़े-तुड़े अखबार को खोलकर पढ़ना शुरू किया- 'बीस हजार हेक्टेयर की फसल नष्ट हो गई। बैंक किसानों को पहले ही ऋण दे चुका है, दोबारा देना संभव नहीं। सुना तुम सबने? शब्द-शब्द पर जोर देते हुए उसने दोहराया, दोबारा देना संभव नहीं है।"[१०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजादी के बाद लिखे उपन्यासों में किसान के यथार्थ जीवन तथा उनके शोषण का वर्णन चित्रित हुआ है जो न केवल किसान के लिए अपितु समस्त मानव समाज के लिए एक अभिशाप है।

सन्दर्भ

१. मिश्र, रामदरश : पानी के प्राचीर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- २०२३, पृ. ५८
२. मिश्र, रामदरश : पानी के प्राचीर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- २०२३, पृ. १२४
३. रेणु, फणीश्वरनाथ : मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली- २०१६, पृ. २८
४. गुप्त, भैरव प्रसाद : गंगा मैया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद- २०१६, पृ. ३६
५. मिश्र, रामदरश : पानी के प्राचीर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- २०२३, पृ. ६०
६. संजीव : फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- २०१६, पृ. २५
७. मिश्र, रामदरश : पानी के प्राचीर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- २०२३, पृ. १७२
८. संजीव : फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- २०१६, पृ. १९५
९. सुबीर, पंकज : अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, म.प्र.- २०२०, पृ. १५४-१५५
१०. संजीव : फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली- २०१६, पृ. ९७

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

डॉ. श्रीराम परिहार के ललित निबंधों में संस्कृति, प्रकृति और लोक विश्वास

सीता मीणा*, डॉ. राजेन्द्र कृष्ण पारीक**

डॉ. श्रीराम परिहार के ललित निबंधों का सांस्कृतिक फलक बहुत व्यापक है। उनके ललित निबंधों का शीर्षक या विषय जो भी हों, लेखनी से भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा फूट ही पड़ती है। डॉ. परिहार संस्कृति में ही जीते हैं और संस्कृति का ही गुणगान करते दिखाई देते हैं। यदि उन्हें संस्कृति-पुरुष कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। भारतीय संस्कृति के विविध रंगों की झलक उनके ललित निबंधों में देखी जा सकती है।

"साहित्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। एक के बिना दूसरे की प्रगति संभव नहीं। जिस जाति की जितनी सु-उन्नत संस्कृति होगी, उसका साहित्य भी तदनुसार उन्नत एवं प्रांजल होगा; क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है और समाज का संबंध मानव-समूह से है। संस्कृति इसी मानव समाज को उन्नत बनाती है। अतः ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं।"[१] संस्कृति शब्द बहुत व्यापक है। इसके अंतर्गत रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, परंपराएँ, विचार भावनाएँ, आस्था-विश्वास धर्म तथा विवाह मेले, संस्कार आदि समाहित होते हैं। भारतीय संस्कृति की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। जो उसे दूसरे देशों की संस्कृतियों से अलग करती है। समन्वय की भावना, आध्यात्मिकता, वर्णाश्रम व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रणाली, विश्वबंधुत्व, धार्मिक सहिष्णुता और उदारता, मातृभूमि से प्रेम, प्रकृति प्रेम, उत्सव प्रियता, सनातनता, शान्ति की भावना त्याग और तप की भावना, कर्म और भाग्य पर विश्वास, विविधता में एकता आदि तत्त्वों का समावेश भारतीय संस्कृति की पहचान है। विश्व की महानतम संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का प्रमुख स्थान है। वैदिक काल से चली आ रही भारतीय संस्कृति आज भी अपनी सुंदरता में बेजोड़ है। यह सुंदरता वेदों, उपनिषदों, सांस्कृतिक ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, श्रीरामचरितमानस से लेकर आधुनिक साहित्य उपन्यास, निबंध, कहानी तथा अन्य साहित्यिक कृतियों में दृष्टिगोचर होती है।

"भारतीय संस्कृति एक उज्ज्वल संस्कृति है, लेकिन सामाजिक अंध-विश्वास तथा रूढ़ परंपराएँ कभी-कभी संकीर्णता का रूप धारण कर लेती हैं। इसमें संस्कृति का दोष नहीं होता बल्कि कुछ स्वार्थी तत्त्व संस्कृति को संकीर्ण बनाने का षडयंत्र रचते हैं, लेकिन समय-समय पर समाज सुधारक तथा महापुरुष संस्कृति को अपवित्र होने से बचाने का प्रयास करते रहते हैं। गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, शंकराचार्य, कबीर, तुलसी, नानक, राजा राम मोहनराय, स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, जैसे महान् दार्शनिक अंध-विश्वासों की दीवार तोड़कर संस्कृति को दूषित होने से बचाते रहे हैं। आधुनिक युग में

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जय नरायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान
* सहायक आचार्य एवं शोध निर्देशक, हिन्दी विभाग, महिला पी.जी. महाविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, निराला, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, अज्ञेय, कुबेरनाथ राय आदि साहित्यकारों ने भारतीय संस्कृति की उज्ज्वलता को प्रकट किया है।"[२]

"साहित्य के प्रमुख तत्त्वों में संस्कृति और प्रकृति भी आती है। आदिकाल से ही प्रकृति मानव की सहचरी रही है। भारतीय संस्कृति के विकास में प्रकृति का असाधारण योगदान है। भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ सभी ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं और पर्याप्त काल तक ठहरती हैं। ऋतुएँ अपने अनुकूल फल, फूलों का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान वातावरण के कारण यह भूमि शस्य श्यामला हो जाती है। यहाँ का हिमालय पर्वत कवियों को सदा प्रेरणा देता रहता है और यहाँ की नदियाँ मोक्षदायिनी समझी जाती रही हैं। भारतीय मनीषी जंगल में रहना पसंद करते थे। प्रकृति प्रेम के कारण ही यहाँ लोग पत्तों में खाना पसंद करते हैं। वृक्षों में पानी देना एक धार्मिक कार्य समझते हैं। सूर्य और चंद्र दर्शन शुभ माना जाता है। हिन्दी के ललित निबंधकारों ने अपने निबंधों में प्रकृति को जहाँ-तहाँ स्थान दिया है।"[३]

डॉ. श्रीराम परिहार गाँव से ही आते हैं। मूलतः कृषक हैं। इसलिए नदी, तालाब, झरने, कूप, बावड़ी आदि में उन्होंने अवगाहन किया है। पवित्र नर्मदा नदी में डुबकी लगाई है, वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, पठार-मैदान, पर्वत-जंगल, खेत-खलिहान में अपना अधिकांश समय बिताया है। ऐसी स्थिति में भला वे प्रकृति वर्णन से कैसे बच सकते हैं? कमाल की बात तो यह है कि उनके ललित निबंध की शुरुआत प्रकृति के उपादानों से ही होती है। डॉ. परिहार का प्रकृति प्रेम इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि अपने प्रथम ललित निबंध संग्रह 'आँच अलाव की' के सभी १८ निबंध प्रकृति से ही सराबोर हैं। 'आकाश प्रिया और मेघ काव्य' निबंध में वे पावस ऋतु को प्रकृति के महाकाव्य का प्रथम सर्ग मानते हुए लिखते हैं - "बरसात की एक-एक बूंद में सृजन क्षमता होती है। वह जहाँ गिरती है, नया जीवन अंकुरित होता है। कीट, पतंग, लता, तरु, तृण अंकुर से लेकर मनुष्य की सांसा और आशा तक जल बिंदु से परिभाषा पाती है। काली घटा की छटा पर मुग्ध शिखी बावरा हो नृत्य-भंगिमा में बदल जाता है। उसका परमानंद, लोचल-बिंदु बनकर उमड़ता है। उसी से एक नये प्रतिरूप का जन्म होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में वर्षा-ऋतु की सृजनधर्मिता से नये बिंदु की शुरुआत होती है। पावस ऋतु प्रकृति के महाकाव्य का प्रथम सर्ग है। एक ऐसा गीत है, जिसके शब्द-शब्द में सत्य, शिव और सुंदर स्वरूप पाता है।"[४] डॉ. परिहार के ललित निबंधों में छः ऋतुओं का विवरण अनेक स्थानों पर देखने को मिलता है। एक ऋतुएँ ही तो हैं जो अपने-अपने काल में आकर प्रकृति को सजाती हैं। पावस और वसंत का तो कहना ही क्या है? इन्हीं की बदौलत सृष्टि का व्यापार चलता है, ये न हों तो जीवन जीवन ही न रहे।

श्रीराम परिहार वारिश के आने-न आने, अतिवृष्टि, अल्पवृष्टि और अनावृष्टि की संभावनाओं को लोक-विश्वास, लोक-धारणाओं और घाघ और भड्डरी की कहावतों में तलाशते हुए नजर आते हैं। इन धारणाओं का एक बड़ा कोश डॉ. परिहार के पास है, जिनका वर्णन कर वे एक अच्छे और सच्चे कृषक की भूमिका में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। वास्तविकता भी यही है कि एक कृषक जीवन प्रकृति के उपादानों और उसके अनुभव के आधार पर ही चलता है। "ऐसी धारणा है कि रोहिणी ने अंडा गाल दिया, अर्थात् रोहिणी बरस गई, तो लगभग एक माह वर्षा नहीं आएगी।"[५] रोहिणी में वर्षा होने के एक माह बाद अर्थात् मृगशिरा बीतने पर आदर्श की वर्षा 'घनश्याम' के गुण-धर्मों के साथ झड़ाझड़ धरती पर आती है। इसके

आने पर यमुना में यौवन आता है। धरती कच्ची जच्चा की महक से गमगमा उठती है। आषाढ़ बादलों के झुनझुने बजाने लगता है। सावन की डाल पर पालने पड़ जाते हैं। कोयल पंचम सुर में लोरी गाने लगती है। 'पुरवा' और 'पछुआ' में 'कृष्ण' को गोद में उठाने की झकझोर भरी नोंक-झोंक होने लगती है।"[६]

डॉ. परिहार को ग्राम्य जीवन की अच्छी खासी समझ है। लोक जीवन और लोक संस्कृति से संपृक्त है। उनके ललित निबंधों में यद्यपि विषय वैविध्य है, किन्तु बिना लोक और लोक संस्कृति के तो वे बात ही आरंभ नहीं करते। लोक में पावस की बात न हुई तो चर्चा अधूरी ही मानी जाएगी। पावस का अर्थ है- जलवृष्टि। बिना जल के जीवन का कोई अस्तित्व नहीं। प्राणियों और वनस्पतियों में जल का संचार दोनों को जीवित बनाए रखता है। चूँकि आम जनजीवन कृषि आश्रित है, अत: लोक को भी पावस अच्छी लगती है। बारिस में पशु-पक्षी, पेड़-पौधे और मनुष्यों के तनमन खिल उठते हैं। फिर किसानों की तो बात ही अलग है। वह तो अन्नदाता है ही। यदि खेती नहीं होती तो हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने के अलावा वह कर ही क्या सकता था? इसलिए बारिस के मौसम में उसकी आँखें आकाशाच्छादित मेघों की ओर आशा भरी दृष्टि से टक-टक देखती रहती हैं। चंद्र, सूर्य, तारे, नक्षत्र उनके निबंधों में ज्ञान का आलोक बिखेरते हैं। आकाश स्थित आकाश गंगा की छिटक उनके हर निबंध में मिल ही जाएगी। खगोल, भूगोल के विशेषज्ञ हैं। डॉ. श्रीराम परिहार इन विषयों से संबंधित पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख कर वे उनकी व्याख्या भी कर देते हैं। इस कारण उनके ललित निबंध और भी बोधगम्य हो गये हैं। पाठक के मन में उन्हें पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है। "ज्ञान का वह सिलसिला सप्तऋषि, हिरनी, ग्वाल-झुमका, भोर का तारा, अगस्त का अस्त फिर उदय से लेकर घाघ और भड्डरी की कृषि-ऋचाओं तक सरकता जाता है।"[७]

डॉ. परिहार संस्कृति के बारे में लिखते हैं कि "सामान्यत: संस्कृति मानव के सम्यक् कर्मों का समूह है। ये कर्म दैहिक, मानसिक, बौद्धिक और प्राकृतिक हो सकते हैं। अत: मानव की सम्यक् कृति ही संस्कृति है। यह मावन के चिंतन की उपज है। संस्कृति में मूल्य, विचार, दृष्टि, नियम, आस्था, विश्वास, मानसिक और कार्मिक व्यवहार शामिल हैं। संस्कृति के सारे तत्त्व समाज विशेष में रहने वाले लोगों को नियंत्रित और संचालित करते हैं।"[८] भाषा और संस्कृति में गहरा संबंध है। परिहार जी ने इस संबंध को बताते हुए लिखा है - "भाषा विशेष के शब्द और अर्थ आकाशीय शून्य में पैदा नहीं होते, उनका गहरा जुड़ाव भूमि और भूमिजन से होता है। इसीलिए प्रत्येक शब्द अपने साथ अपने अर्थ में हजारों साल की जीवन परंपराओं का प्रकाश समेटे हुए रहता है। संस्कृति की भाषा देश और काल में स्थित सृष्टि-जीवन की संस्कृति का ही अभिव्यक्तिकरण है। इन्हीं अर्थों में भाषा स्वयं में भी एक संस्कृति है।"[९] भारतीय संस्कृति के आराधक डॉ. परिहार ने अपने अनेक निबंधों में उसकी विशेषताओं का प्रकटीकरण किया है। यथा - "भारतीय संस्कृति प्राचीनतम है। वह अखण्ड है। उसकी एकता वन्दनीय है। यह एकता, अखण्डता और सुंदरता उसकी भाषाओं से भी प्रकट होती है। भारतीय संस्कृति प्राचीनतम है, तो भारतीय भाषाओं की जननी 'संस्कृत' भाषा भी विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। भारतीय संस्कृति भावात्मक तथा आन्तरिक रूप से अखण्ड है, तो भारतीय भाषाएँ, लिपि, वर्ण और उच्चारण में भिन्न होते हुए भी मानवीय भावों की उदात्त और समान भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अखण्ड है। भारतीय संस्कृति प्रकृति के सान्निध्य में विकसित हुई है।"[१०] सभी को साथ लेकर चलना भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता है। "भारतीय संस्कृति में अनेक संस्कृतियाँ आकर मिलती हैं।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतवर्ष को इसी अर्थ में 'महामानवेर समुद्र' की संज्ञा दी है। ये सब संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति में समाहित होकर अपनी पहचान खो चुकी हैं। संश्लेषण की यह प्रक्रिया सिद्ध करती है कि भारतीय संस्कृति में आत्मसात करने की अद्‌भुत क्षमता है। यह क्षमता हिन्दी में और अन्य भारतीय भाषाओं में भी है।''[११] भारतीय संस्कृति में कलश, कमल, हंस, स्वास्तिक, सूर्य, चन्द्र, दीपक, पीपल, आम्र, कामधेनु, पुष्प, बाँसुरी आदि प्रतीकों के साथ ही मिथकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मिथकों का किसी भी संस्कृति या संस्कृति विशेष पर आधारित जीवन विधि को उसके आदिम स्वरूप और विकास प्रक्रिया में समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।[१२]

भारतीय संस्कृति समन्वयवादी रही है। इसलिए वह अमृतत्व तो वरण कर सकी है। डॉ. परिहार के ललित निबंध सांस्कृतिक धरातल पर लिखे गए हैं। उनके निबंधों में अपने अंचल से विशेष प्रेम प्रस्तुत हुआ है। उनमें अपनी मिट्‌टी के लिए, अपने सामाजिक रिश्तों के लिए, अपने संस्कारों के लिए, अपने तीज त्यौहारों के लिए प्रेम गहराई से समाया हुआ है। अतएव लोक संस्कृति का उदात्त एवं सहज रूप उनके निबंधों में प्राप्त होता है। सारे भारत के लोकांचलों की पीड़ा भी उनके निबंधों में व्यक्त हुई है। डॉ. परिहार के ललित निबंधों में लोक विश्वास, लोकरंग, लोकगीत, लोक बोली, रीति रिवाज, अंध विश्वास आदि का सहज समावेश मिलता है।

परंपरागत संस्कार और मूल प्रवृत्तियाँ लोक विश्वास के अंतर्गत आते हैं। सामान्य जन का मस्तिष्क लोक विश्वासों से भरा पड़ा है। लोक मानस में आश्चर्य एवं भय की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। भय की यह प्रवृत्ति मानव के संपूर्ण व्यवहारों तथा व्यापारों का नियंत्रण करती है साथ ही व्यक्ति में एक विशिष्ट दृष्टिकोण को निर्मित करती है जिसका संबंध धर्म से होता है। लोकमानस के अंतर्गत वे सारी परंपराएँ आती हैं। जो समुदाय या जातियों में प्रचलित है। व्यक्ति के अवचेतन मन में संस्कार, रूढ़ि आदि विश्वास अंधविश्वास के रूप में विद्यमान है। डॉ. परिहार के ललित निबंधों में इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। लोक विश्वास और धर्म एक दूसरे के पूरक हैं। इतना होने पर भी लोक में मूर्ति, भगवान तथा संप्रदाय के झमेले नहीं होते। लोक-धर्म मानवता का सच्चा पुजारी होता है। डॉ. परिहार के निबंधों में लोक विश्वास का सहज उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त होता है। यथा- ''रोहिणी बरस गई तो लगभग एक माह वर्षा नहीं आएगी।''[१३]

डॉ. परिहार की जो लोकधारणाएँ या विश्वास हैं। वे उन्हें कृषक पुत्र होने के कारण अपने पिता से विरासत में मिले हैं। ग्रामीण वातावरण ने भी उनके लोक विश्वास को पुष्ट किया है। रोहिणी नक्षत्र एवं जेठ के मध्य में पिताजी सप्त ऋषि को देखकर कहते हैं कि ''अभी समइंया माथे पर नहीं आया है। पानी आने में देर है। मोहिनी (एक पेड़) में अभी तीन-तीन पत्तियाँ नहीं आई हैं, अभी बोनी शुरू नहीं होगी।''[१४] परिहार जी ने अनेक स्थलों पर प्रासंगिक तौर पर अनेक लोक विश्वासों को उजागर किया है - ''उत्तरा जब तेज चलेगी, तो निश्चित ही अपने साथ पानी की खेप लाएगी।''[१५] लोक विश्वास के साथ-साथ वैज्ञानिक सत्य भी है कि ''गुड़ी पड़वा के दिन नीम का झामका (पत्तियों का गुच्छा) द्वार पर तोरण की भाँति लटका दिया जाता है। एक प्रतीक कि बाहर की कड़वाहट घर के भीतर न आए। नीम द्वार पर ही अपनी पर्यावरण शुद्धि क्षमता से विषाणुओं को रोक लेता है और यह भी कि घर-द्वार नीम की तरह हरा-भरा रहे।''[१६] 'बातपेटी में कूकती कोकिल' ललित निबंध में डॉ. परिहार ने अनेक लोक मान्यताओं और धारणाओं को

स्थान दिया है। मानव अंगों की कुछ क्रियाएँ और चिह्न विभिन्न संदेश देते हैं। वे लिखते हैं कि ''देह की एक भाषा होती है और अंग फड़कने का एक संदेश। पुरुष के दाएँ और स्त्री के बाएँ अंग का फड़कना शुभ-संदेश देता है। छीक का अपना लोकमत है। बिल्ली के रास्ता काटने के अलग-अलग अपने अर्थ और संदेश है। शरीर के दाहिने भाग पर तिल, सिर के बालों का भौंरा, बदन पर मस्सा और लांछन का होना संदेश देता है कि व्यक्ति पुरुषार्थी और कर्मठ है।

तिल भौंरा लहसुन मसा, होय दाहिने अंग।
जाय बसै बन खंड में, तरु लक्ष्मी संग।।''[१७]

भारतीय लोकजीवन का प्रकृति के साथ गहरा संबंध रहा है। प्रकृति मानव की चिर सहचरी रही है। संवेदनाएँ जब विस्तारित होती हुई मानवीय जगत् का अतिक्रमण कर जाती हैं तब प्रकृति सुख-दुःख में साथी बनकर आत्मीय हो उठती है। कोकिल, भौंरा, हंस, कबूतर, कौआ, पवन, बदरा, वृक्ष आदि सब प्रकृति परिवार के सदस्य संदेशवाहक का कार्य करते हैं। लोक में ऐसी अनेक धारणाएँ या विश्वास प्रचलित हैं। जैसे- ''मुंडेर पर कौआ सुबह-सुबह बोल उठे तो यह पक्षी संदेश है कि जरूर कोई पाहुना आने वाला है। कोयल का सुबह-सुबह बोल सुनाई दे जाना यह संदेश देता है कि आज प्रिय व्यक्ति से मिलाप होगा। पपीहा की वाणी में अपने ही मन की करुणा रुदन बनकर फूटती प्रतीत होती है। कोयल माघ मास में पहली बार कूकती है तो पूरी प्रकृति चौकस और उत्साहित हो जाती है। ऋतुराज वसन्त का आगमन होने वाला है।

सांझ की बिरियाँ, वन से लौटती गायें जब हुंकारती हैं तो संदेश मिलता है कि वह बछड़े को याद कर रही है। लोकजीवन प्रकृति के सान्निध्य में रहते हुए अनेक भाषा-बोलियों में निहित संदेश समझने की क्षमता प्राप्त कर सका है। कुत्ते का भौंकना और कुत्ते का रोना अलग-अलग संदेश देता है। सियार का बोलना, गाँव के लिए शुभ और उसका रोना अशुभ संदेश है। उल्लू का दिखना और बोलना दोनों ही अनिष्टकारक संदेश संकेत है। जहाँ चिड़ियाँ झुण्ड में इकट्ठी होकर जोर-जोर से चै-चैं करें, यह संदेश है कि वहाँ सर्प या बिल्ली के रूप में काल (मृत्यु) उपस्थित है। सुनसान रात्रि में टिटहरी बोले, तो यह संदेश है कि वहाँ मनुष्य या पशु की आहट है।''[१८]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि श्रीराम परिहार के ललित निबंधों में गहरी ग्रामीण संवेदनाएँ समाहित हैं। उनके निबंध भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत हैं। निबंधों में प्रकृति का समावेश सुंदर रूप में किया गया है। संस्कृति के समस्त तत्त्वों का तथा लोक विश्वास, लोक मान्यताओं का अभूतपूर्व चित्रण उनके ललित निबंधों की चारुता में चार चाँद लगाता है।

सन्दर्भ

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार प्रवाह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, २००३, पृ. ५३

२. डॉ. सुनील दत्त शर्मा, डॉ. राम अवध शास्त्री के ललित निबंधों का समीक्षात्मक अध्ययन, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, २००९, पृ. ५३-५४

३. डॉ. श्रीरंग पांडुरंग वट्टमवार, हिन्दी ललित निबंधों का सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन, समता प्रकाशन, कानपुर, २०१६, पृ. १२३

४. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, आकाश प्रिया और मेघ काव्य, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. १५

५. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, पावस उत्सव और लोक धारणाएँ, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. १८
६. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, पावस उत्सव और लोक धारणाएँ, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. १९
७. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, पावस उत्सव और लोक धारणाएँ, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. २१
८. डॉ. श्रीराम परिहार, शब्द-शब्द झरते अर्थ, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, २०१५, पृ. ३०
९. डॉ. श्रीराम परिहार, शब्द-शब्द झरते अर्थ, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, २०१५, पृ. ३०-३१
१०. डॉ. श्रीराम परिहार, शब्द-शब्द झरते अर्थ, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, २०१५, पृ. ३१
११. डॉ. श्रीराम परिहार, शब्द-शब्द झरते अर्थ, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, २०१५, पृ. ३३
१२. डॉ. श्रीराम परिहार, शब्द-शब्द झरते अर्थ, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, २०१५, पृ. ३३
१३. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, पावस उत्सव और लोक धारणाएँ, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. १८
१४. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, पावस उत्सव और लोक धारणाएँ, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. २१
१५. डॉ. श्रीराम परिहार, ठिठके पल पाँखुरी पर, नीम की आँखों में पानी शेष है, पड़ाव प्रकाशन, भोपाल, २०००, पृ. १६
१६. डॉ. श्रीराम परिहार, ठिठके पल पाँखुरी पर, नीम की आँखों में पानी शेष है, पड़ाव प्रकाशन, भोपाल, २०००, पृ. १८
१७. डॉ. श्रीराम परिहार, शब्द-शब्द झरते अर्थ, बात पेटी में कूकती कोयल, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, २०१५, पृ. १४४
१८. डॉ. श्रीराम परिहार, शब्द-शब्द झरते अर्थ, बात पेटी में कूकती कोयल, ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, २०१५, पृ. १४५

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

निराला और नागार्जुन के काव्य में व्यंग्यात्मकता

मुकेश कुमार यादव*

निराला और नागार्जुन की व्यंग्य-सृष्टि की तुलना का यहाँ एक विशेष सन्दर्भ है। यह तुलना इसलिए नहीं की गई है कि दोनों के बीच महत्त्व का अन्तर रेखांकित किया जाए। यह संभव भी नहीं है और उचित भी नहीं। निराला का रचनाकाल नवजागरण से चल कर प्रगति युग तक फैला है। उनकी रचनात्मक संवेदना और उनका रचनात्मक विवेक वस्तुतः उनके युग की चेतना से निर्मित है। परन्तु नागार्जुन का रचनाकाल स्वाधीन भारत के ५० वर्षों में परिव्याप्त है। अतः दोनों के व्यंग्यों को आमने-सामने रखकर दोनों का मूल्यांकन करना सृजनात्मक या आलोचनात्मक लक्ष्य बन ही नहीं सकता। यहाँ तुलना का उद्देश्य यह है कि नवजागरण, स्वाधीनता आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन और समाजवादी आन्दोलन इन आन्दोलनों में जिस प्रकार एक क्रम है, एक विकास है उसी के समानान्तर पूरे युग की चेतना के विकासात्मक निर्माण का इतिहास भी है। स्वाधीनता से पूर्व निराला और स्वाधीनोपरान्त नागार्जुन दोनों ने अपने युग विकास के परम्परा क्रम में जो विद्रूपताएँ देखीं उन पर दोनों ही सर्जकों ने किस प्रकार अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं, उन्हें मूल्यांकित करने की दृष्टि से यह तुलना प्रस्तुत की गई है। इसीलिए इस निर्माण प्रक्रिया के मार्ग में राजनीति, समाज, संस्कृति, धर्म, कला किसी भी क्षेत्र में अगर बाधक तत्व दृष्टिगोचर हुए हैं दोनों ने अपने व्यंग्य से उन्हें क्षत-विक्षत किया है। निराला और नागार्जुन दोनों ही विद्रोही और क्रांतिकारी कवि हैं। दोनों ही अभावग्रस्त जीवन की देन हैं तथा जाति के ब्राह्मण हैं और दोनों ही जातिवाद के घोर विरोधी हैं। दोनों ही धर्म, जातिवाद, वर्ग-भेद आदि के शिकार हुए हैं एवं हिन्दी क्षेत्र के कवि हैं।

निराला और नागार्जुन ने अपने आसपास में गरीबी, भूखमरी और शोषण से तड़पती हुई जनता को देखा है। दोनों ही आम जनता के सहभागी और सहभोगी हैं। दोनों ही उपेक्षितों को सहानुभूति देते हैं। दोनों ने सम्पूर्ण सामाजिक कुरूपता पर प्रहार किया है। निराला ने व्यक्तिगत स्तर पर अनेक सामाजिक रूढ़ियों का भंजन किया है। नागार्जुन ने व्यक्तिगत स्तर पर और सामाजिक स्तर पर भी सामाजिक रूढ़ियों, कुप्रथाओं, दासता आदि का विरोध किया है। दोनों एक नई दुनिया बनाना चाहते हैं, जिसका मनुष्य स्वच्छन्द हो, स्वतंत्र हो और पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करे। दोनों ने व्यंग्य का सहारा लिया है। निराला ने प्रत्यक्ष सामाजिक व्यंग्य लिखा है और विभिन्न सन्दर्भ में भी उनके व्यंग्य उभरे हैं। नागार्जुन के अधिकांश व्यंग्य प्रत्यक्ष ही हैं। निराला ने जाति-पाति पर व्यंग्य से प्रहार किया है। प्रेम मानवीय गुण है। वह जाति, धर्म, वर्ण आदि मानवकृत बंधनों को नहीं मानता है। भारतीय वर्णवादी व्यवस्था ने प्रेम को भी अपने विधान में बाँधा है। निराला इस वर्ण विधान पर 'प्रेम-संगीत' कविता में प्रहार करते हैं। ब्राह्मण का लड़का 'पनिहारिन' से प्रेम करता है। 'मैं' शैली ने व्यंग्य को अधिक सशक्त और विद्रोहात्मक बना दिया है। निराला ने ब्राह्मणवाद पर

* शोधार्थी-हिन्दी विभाग, राज ऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय, अलवर, राजस्थान

प्रहार करने के लिए स्वयं कदम उठाया था। अपनी पुत्री की शादी में किसी ब्राह्मण को न बुलाकर साहित्यकारों को बुलाया और विवाह में स्वयं मन्त्र-पाठ किया। 'सरोज स्मृति' में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की प्रकृति और दहेज प्रथा पर तीखा व्यंग्य किया है। इस संदर्भ में करुणा, विषाद, आक्रोश और विनोद भी है। यथा –

'ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार
खाकर पत्तल में करें छेद
इनके कर कन्या अर्थ खेद,
इस विषय बेलि में विष की फल
यह दग्ध मरुस्थल नहीं सुजल।'[१]

तुलसीदास में संदर्भमूलक व्यंग्य है। अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान भारत के ब्राह्मणों और राजपूतों पर व्यंग्य है, दूसरी तरफ भारत की मनीषा और क्षात्र धर्म पर भी। निराला के व्यंग्य ब्राह्मणत्व अर्थात् प्रखर मनीषा और क्षात्र धर्म अर्थात् वीरता की प्रतिष्ठा के लिए लिखे गये हैं। जो जाति मनीषा और पौरुषहीन होती है वह धरती से मिट जाती है। यथा –

'भारत के उर के राजपूत,
उड़ गए आज वे देवदूत
जी रहे शेष नृप-वेश
सूत बंदीगण।'[२]

छुआछूत, वर्ग भेद और वर्ण-भेद की अपनी भावनाओं को नागार्जुन ने 'हरिजन गाथा' में अभिव्यक्त किया है। 'हरिजन गाथा' एक लम्बी कविता है, जिसमें जातिवाद के पाश्विक रूप का चित्रण है। भारत में हरिजनों पर ऊँची जाति और उच्च वर्ग के लोगों ने प्रहार किया है। नागार्जुन हरिजनों की पक्षधरता करते हुए अभिजात्यों के काले करतूतों का सच्चा इतिहास लिखते हैं। वे लिखते हैं –

'सब के दुःख में दुःखी रहेगा।
सब के सुख में सुख मानेगा।।'[३]

निराला पुनर्जागरण से प्रभावित हैं। आजादी से पूर्व नारी मुक्ति की लड़ाई चल रही थी। उस समय विधवा अपवित्र मानी जाती थी और परिवार की सम्पति पर उसका कोई अधिकार नहीं होता था। निराला ने विधवा कविता में मंदिर की पूजा सी पवित्र कहकर हिन्दू समाज को धिक्कारा है। विधवा के प्रति उनका करुणा मिश्रित व्यंग्य है, किन्तु विधवा को सम्मान नहीं देने से भारत का 'सर-गया' है अर्थात् नारी सम्मान देकर भारत अपना सिर ऊँचा रख सकता है। 'रानी और कानी' के माध्यम से वैवाहिक असंगतियों पर प्रहार किया गया है। इसमें करुणामूलक व्यंग्य ध्वनित हुआ है। वे लिखते हैं –

'काँप कुल अंग दायी आँख से
आँसू भी बह चले माँ के दुःख से
लेकिन वह बायी आँख कानी
ज्यों की त्यों रह गयी रखती निगरानी।'[४]

नागार्जुन के नारी संबंधी व्यंग्य दो प्रकार के हैं। प्रथम है पुरुष प्रधान समाज के पुरुष की भोगवृत्ति पर व्यंग्यात्मक प्रहार और दूसरा है पुरुष की नारी के प्रति शंका की मनोवृत्ति पर प्रहार। शताब्दियों से सामंती समाज नारी के सौन्दर्य को मात्र विलासिता का साधन समझता आया है। 'पाषाणी' कविता में मिथक का सहारा लेकर नागार्जुन ने भारतीय मानस के आदर्श पुरुष राम के सामने प्रश्न रखा है। भारतीय समाज के सम्पूर्ण आदर्श व्यक्तियों और समाज सेवकों के सामने यह प्रश्न एक चुनौती है। नारी अहल्या न बने। 'तालाब की मछलियाँ में पुरुष की भोगवृत्ति पर कठोर प्रहार है। शताब्दियों से पुरुष वर्ग नारियों के साथ मछलियों सा व्यवहार करता आया है। मछली स्वाद के लिए भून-भून कर तैयार की जाती है। पुरुष समाज नारी प्रेम को जीवन की पूर्णता के लिए नहीं प्रयुक्त कर स्वाद के लिए करता है। गजब की तड़पन है नागार्जुन के हृदय में कड़ाही में तलती हुई मछलियों की तरह। शंकी पतियों पर 'रेणुका' के माध्यम से प्रहार किया गया है। नागार्जुन आजाद हिन्दुस्तान में स्वतंत्र और उत्तरदायित्वबोध की नारी चाहते हैं। इसलिए गणतंत्र से खिलवाड़ करने वाली आधुनिकों को भी क्षमा नहीं करते हैं। उनकी फैशनपरस्ती पर कठोर व्यंग्य करते हैं। इन 'वासकसज्जा' आधुनिकताओं के लिए चोट (गणतंत्र) का महत्त्व नहीं है, महत्त्व है अपनी रंगी हुई उँगलियों का। वोट देने से उँगली काली हो जायेगी, इसलिए सौन्दर्य-रक्षा के लिए वोट नहीं देती हैं। नागार्जुन विनोद-मूलक व्यंग्य के माध्यम से इस प्रकार की आधुनिकताओं पर प्रहार करते हैं। 'विज्ञापन-सुन्दरी' ऐसी सुन्दरियों पर व्यंग्य है जो कुबेरों के छौनों को अपनी 'मुस्कान' बेचती हैं। नागार्जुन नारी की पक्षधरता विवेक को जागृत रखकर करते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है कि जो कवि अपने को नहीं बक्सता है, वह दूसरों को कैसे छोड़ सकता है। नागार्जुन की नारी विवेक की उपज होगी, नई दुनिया का निर्माण करेगी।

पूँजीपति वर्ग और सामंत वर्ग समाज के सबसे बड़े शत्रु होते हैं। निराला ने अपनी कई कविताओं में उन पर निर्मम प्रहार किया है। परतंत्र हिन्दुस्तान में जमींदार अंग्रेजों के दलाल थे और किसान-मजदूरों के दुश्मन थे। जमींदारों के अत्याचार से किसान मेढ़क की तरह मूत-मूतकर घर छोड़ने के लिए बाध्य हो रहे हैं। छलाँग मारता चला गया कविता में किसानों की असहायता का वर्णन है। जमींदार और नौकरशाही की साँठ गाँठ किसान के लिए कितनी खतरनाक होती है डिप्टी साहब आये हैं? कविता में देखा जा सकता है। डिप्टी साहब के आने का तात्पर्य है नजराना भेंट करना। सामंती व्यवस्था में किसान आदमी की तरह बोल नहीं सकता, वह कुत्ते की तरह अपने अधिकार के लिए भौक सकता है, अपने अधिकार की रक्षा नहीं कर सकता है। इस पूँजीपतिवादी सभ्यता ने आदमी को 'बैल' और 'घोड़ा' बना दिया है।

निराला ने मुनाफाखोरों को भी अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है। 'पाँचक' कविता में किसान की दुर्दशा का कारण मुनाफाखोरों को बताया गया है। सामाजिक व्यवस्था दानाश्रित अर्थात् अर्थाश्रित संबंधों पर भी निराला ने व्यंग्य किया है। सामाजिक रिश्तों का माधुर्य और उसकी कटुता का मूलाधार 'दाना' है। निराला की यह चेतना मार्क्स की आर्थिक और मानवीय संबंधों की चेतना संबंधी विचारों के काफी नजदीक है। निराला की दृष्टि भिक्षुकों और मजदूरों पर भी गई है। दोनों ही सामंती और पूँजीपतिवादी व्यवस्था की देन हैं। 'भिक्षुक' में निराला का करुणा मिश्रित व्यंग्य है। युग को दर्पण दिखाया गया है। 'तोड़ती पत्थर' तो युगांतकारी कविता है जो वर्ग समाज के चेहरे का अनावरण दो विरोधी चित्रों द्वारा करती है। एक तरफ ग्रीष्म ऋतु में सूर्य आग की वर्षा कर रहा है, जिसमें खुले आसमान के नीचे मजदूरनी भारी हथौड़े से पत्थर तोड़

रही है दूसरी तरफ 'तरुमालिका' में 'अट्टालिका' है जहाँ धनी वर्ग के लोग रहते हैं। कवि की करुणा और निराशा वर्ग समाज पर हथौड़े से प्रहार में समाप्त होती है। इलाहाबाद में इस घटना को केन्द्रित करके लेखक स्वतंत्रता सेनानियों के सामने भी चुनौती रखता है। जब कविता लिखी जा रही थी तब इलाहाबाद खासकर कांग्रेस नेताओं के कार्यकलाप का केन्द्र था। निराला की करुणा मिश्रित व्यंग्य में पराजय नहीं, दृढ़ता है। वे लिखते हैं –

'नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन भर, बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहार-
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्रकार।"[५]

निराला की सबसे सशक्त कविता कुकुरमुत्ता है, जिसमें पूँजीपति वर्ग पर ही नहीं, सम्पूर्ण आभिजात्य पर व्यंग्य किया गया है तथा सर्वहारा की महिमा का गुणगान ऐंठ के साथ किया गया है। इस ऐंठ में सम्पूर्ण वर्ग समाज की विविध छवियों के संकेत हैं। वास्तव में यह कविता हिन्दी साहित्य में अकेली है। नागार्जुन ने भी अभिजात्यों पर व्यंग्य किया है। धनी वर्ग के लोग वैसे लगते हैं जैसे कुष्ठ शरीर पर 'मणिमय आभूषण'। नागार्जुन ने सफेशपोश उस बाबू वर्ग पर भी व्यंग्य किया है, जो पसीने से भींगे हुए मजदूरों के पास ट्राम में बैठने से घिन्नाते हैं। घिन तो नहीं आती? कविता में ऐसे ही बाबू लोगों पर परिहासपूर्ण व्यंग्य है। नागार्जुन ने 'खुरदरे पैर' में फटी बिवाइयों वाले रिक्शाचालक की करुण अवस्था का वर्णन किया है। रिक्शावाला घरती के फासले को जीवन भर मापते रहेगा जैसे निराला की पत्थर तोड़ने वाली पत्थर तब तक तोड़ती रहेगी जब तक समाज नहीं बदलेगा। 'तो फिर क्या हुआ' कविता में 'प्रज्ञाकर गुण निधान' प्राचार्य जैसे लोगों पर व्यंग्य है। 'बूढ़ी गंडक' में बाढ़ आई है। हज़ारों लोग बेघर हो गये हैं। उत्तेजित बाढ़ पीड़ितों पर पुलिस लाठी चार्ज करती है। प्राचार्य स्थितिप्रज्ञ होकर कहते हैं कि 'प्रलय' में सृष्टि होती है। नाश और निर्माण का चक्र शाश्वत है। परन्तु जब उनके 'लल्ला' डॉलर की परेशानी से शिकागो नहीं जाते तो उन्हें मार्मिक पीड़ा होती है। यह व्यंग्य भारत के बुद्धिजीवियों पर है जो स्वार्थ में लीन रहते हैं, स्व-पीड़ा को ही सब कुछ समझते हैं और पर पीड़ा उनके लिए 'प्रभु' की देन होती है।

निराला और नागार्जुन दोनों ही अभावग्रस्त जीवन की देन हैं। दोनों की साहित्य-सर्जना उच्चकोटि की है। दोनों ही युगद्रष्टा, युगश्रष्टा और युग के सामने मशाल लेकर चलने वाले साहित्यकार हैं। दोनों ने वास्तव में कवि जीवन जिया है। दोनों की उपलब्धियाँ अतुलनीय हैं। दोनों पर केवल समाज द्वारा ही नहीं साहित्यकारों द्वारा भी प्रहार हुए हैं। दोनों को युग का सम्मान पुरस्कार देने वाली संस्थाओं से उचित रूप में नहीं मिला है। सच्चाई यह है कि जनता ने इन कवियों को सम्मान दिया है, संस्थाओं ने नहीं। इस संदर्भ में सार्त्र की वाणी इनके लिए भी सार्थक है। उसने 'नोबेल' पुरस्कार को 'आलू का बोरा' कहा था, इन दोनों कवियों के लिए सभी पुरस्कार अपने को गौरवान्वित करते, निराला या नागार्जुन को नहीं।

नागार्जुन ने रूपवादी कवियों पर भी कठोर प्रहार किया है। 'मांजो और मांजो' कविता में नागार्जुन कहते हैं कि रूपवादी कवियों के काव्य में रूप-रस, गंध, स्पर्श का अभाव है। वस्तु भूसी है। शिल्प में

चमत्कार है। अतः उनकी कविता में केवल 'झाग ही झाग' है, जीवन की तरलता नहीं है। अप्रतिबद्ध कवियों से नागार्जुन इतने क्षुब्ध हैं कि 'संग तुम्हारे साथ तुम्हारे' कविता में कहते हैं कि ऐसे पतित बुद्धिजीवी समाज में 'आग लगा दो'। ये इतने नीच हैं कि इनकी मृत्यु के बाद इनकी लाश को 'गीध' और 'कुत्ते' तक स्पर्श नहीं करेंगे। संकेत यह है जन-विरोधी कवि अक्षम्य हैं और कर्तव्य-भ्रष्ट हैं।

'अपने पदों को
बार-बार मांजो
मांजो और मांजो, मांजते जाओ
लय करो ठीक, फिर-फिर गुनगुनाओं
मत करो परवाह क्या है कहना
कैसे कहोगे, इसी पर ध्यान रहे
चुस्त हो सेंटेन्स, दुरुस्त हों कड़ियाँ
पके इत्मीनान से गीत की कडियाँ।'[६]

निराला ने पूँजीपतिवाद, सामंतवाद और सत्ता के चारणों पर बार-बार प्रहार किया है। 'राजे ने अपनी रखवाली की' कविता में कवियों, लेखकों, नाटककारों, इतिहासकारों आदि की चारणी मनोवृत्ति को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है। ये बुद्धिजीवी अपने को बेच चुके हैं। ये वाल्मीकि, व्यास, कालिदास के वंशज नहीं हैं। निराला ने उन गीतकारों और कवियों को भी नहीं छोड़ा है, जो पूँजीपतियों और नेताओं का गुणगान करके अपना गीत बेचते हैं। कुकुरमुत्ता में ऐसे कवियों को निराला ने 'दुम हिलाता', 'आधुनिक पोएट' कहा है। निराला ने कलाहीन प्रगतिवादियों पर भी व्यंग्य किया है। उन्होंने उन चाटुकार पत्रकारों को भी नहीं छोड़ा है जो धनी लोगों का गुणगान करते थकते नहीं हैं।

नागार्जुन ने भी उन साहित्यकारों पर व्यंग्य किया है जो सत्ता के पीछे-पीछे दुम हिलाते हैं। साहित्यकार राजनीति का पथ प्रदर्शक होता है, पिछलग्गू नहीं। सत्ता के साथ सटकर 'कविवर कवि कुमुद, कलाधर' कहलाने वाले साधारण कवियों पर नागार्जुन ने अपना व्यंग्य बाण छोड़ा है।

अन्त में कहा जा सकता है कि दोनों कवियों ने युग के अनुसार साहित्य-धर्म-विरोधी साहित्यकारों और उनके पूरक अंगों पर व्यंग्य कर कवि कर्म का सच्चा निर्वाह किया है। निष्कर्ष यह है कि अपने रचनायुग की विद्रूपताओं और कुरूपताओं पर जिस प्रकार निराला ने प्रहार किया था उसी प्रकार बल्कि उनसे भी कुछ और अधिक तेवर के साथ नागार्जुन ने स्वाधीन भारत की कुरूपताओं पर हमला किया है। दिनकर स्मृति व्याख्यान माला के क्रम में डॉ. नामवरसिंह ने भारत की सांस्कृतिक क्रांति का आकलन करते हुए नवजागरण काल से लेकर आजतक की पतनोन्मुखता का आलोचनात्मक ब्योरा प्रस्तुत किया है। स्वाधीनता सेनानियों के सपने को स्वाधीन भारत ने किस प्रकार क्षत-विक्षत किया है, उनकी महान् आकांक्षाओं को कैसे धूल चटाई है इसका बेबाक विवरण उस लेख में उपलब्ध है। प्रेमचंद जैसे सर्जकों ने तो बहुत पहले ही इस भावी पतनोन्मुखता का संकेत दे दिया था। निराला और नागार्जुन दोनों की व्यंग्य कविताओं को अगर एक क्रम में रख देते हैं, तो वह इतिहास अपने घिनौने रूप में सामने आ जाता है और साथ ही इस घिनौनेपन के लिए जिम्मेदार स्थितियों पर किये गये प्रहारों का वह स्वरूप भी आलोकित हो

उठता है जिसमें बेहतर और सुन्दर मनुष्य समाज के निर्माण की प्रबल आकांक्षा भी है। दोनों ने अपने समय को तो रचा ही है भविष्य के प्रति भी सृजनात्मक आस्था की अभिव्यक्ति की है।

सन्दर्भ

१. सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला', सरोज स्मृति, अनामिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. १२९

२. सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला', तुलसीदास, साहित्य सरोवर, आगरा, पृ. १४

३. नागार्जुन, हरिजन गाथा, साहित्य सरोवर, आगरा, पृ. २४४

४. सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला', रानी और कानी, नये पत्ते, साहित्य सरोवर, आगरा, पृ. १६

५. सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला', तोड़ती पत्थर, अपरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. २९–३०

६. नागार्जुन, माँजों और माँजों, साहित्य सरोवर, आगरा, पृ. ६९

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

साहित्य में समाजवादी चेतना

नरेन्द्र सिंह*, डॉ. रेखा चौधरी**

साहित्य समाज की सामूहिक चेतना को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह एक जीवंत टेपेस्ट्री के रूप में कार्य करता है, जो खुशी और दुःख, खुशी और निराशा के धागों और मानवीय अनुभव को समाहित करने वाली असंख्य भावनाओं से जटिल रूप से बुना हुआ है। इसके पन्नों के भीतर, कोई विशाल मानव जाति के धड़कते दिल की धड़कन को देख सकता है, क्योंकि यह अस्तित्व के परीक्षणों और विजयों के साथ प्रतिध्वनित होता है। अपनी गहन अंतर्दृष्टि के माध्यम से, साहित्य जीवन के सार को उजागर करता है, इसे पाठक की आत्मा में जीवन फूंकने की शक्ति प्रदान करता है। यह स्वाभाविक रूप से मानवता के साथ जुड़ा हुआ है, क्योंकि यह पूरी तरह से व्यक्तियों के विचारों, अनुभवों और अस्तित्व पर निर्भर है। मनुष्य की बहुमुखी प्रकृति को दर्शाते हुए, साहित्य उनकी गहरी भावनाओं, कलात्मक अभिव्यक्तियों और सामाजिक जटिलताओं का प्रतीक बन जाता है। सामाजिक दुविधाओं, विचारों और भावनाओं के निर्माता के रूप में, मनुष्य भी अपने द्वारा बनाए गए निर्माणों से गहराई से प्रभावित होते हैं। इसलिए, साहित्य इस गहन प्रभाव की मुखर अभिव्यक्ति की भूमिका निभाता है, एक दर्पण के रूप में कार्य करता है जो समाज की जटिलताओं को सटीक रूप से दर्शाता है।

साहित्य का अर्थ है – जो हित सहित हो। भाषा का माध्यम से ही साहित्य हितकारी रूप में प्रकट होता है। भाषा मनुष्य की सामाजिकता को विशेष रूप से पुष्ट करती है। उसी के द्वारा मानव-समाज में एक-दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेने का सहकारिता का भाव उत्पन्न होता है। साहित्य मानव के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों को और भी अधिक दृढ़ बनाता है। क्योंकि उसमें सम्पूर्ण मानव-जाति का हित सम्मिलित रहता है। साहित्य साहित्यकार के भावों को समाज में प्रसारित करता है जिससे सामाजिक जीवन स्वयं मुखरित हो उठता है, क्योंकि साहित्यकार सामाजिक प्राणी होता है।

समाज की उन्नति तभी संभव है जब हमारी भावनाएँ संतुलित हों और हमारी मानसिक क्षमता विकसित और उन्नत हो। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साहित्य सबसे सशक्त उपकरण के रूप में कार्य करता है। इसमें हमारी सहानुभूति को सक्रिय करने और हमारी भावनाओं को परिष्कृत करने की क्षमता है। साहित्य के उपभोग से हमारे विचार और दृष्टिकोण परिष्कृत हो जाते हैं और हमारे हृदय अधिक दयालु हो जाते हैं। साहित्यिक कार्यों में खुद को डुबोने से, हम पुण्य गतिविधियों में संलग्न होने की आदत विकसित करते हैं। साहित्य हमारी भावनात्मक स्थिति पर गहरा प्रभाव डालता है, जिससे हममें मानवता की भावना विकसित होती है और हमारे भीतर शालीनता और सभ्यता को बढ़ावा मिलता है। परिणामस्वरूप, हम दूसरों के साथ प्रभावी ढंग से बातचीत करने, अंततः समाज के भीतर सद्भाव स्थापित करने और प्रगति का मार्ग

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आदर्श कृष्ण महाविद्यालय शिकोहाबाद, फिरोज़ाबाद (उ.प्र.)
** एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, ए.के.पी. (पी.जी.) कॉलेज खुर्जा, बुलन्दशहर (उ.प्र.)

बनाने के लिए आवश्यक कौशल हासिल करते हैं। अतः हमारे सामाजिक जीवन में साहित्य के महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता।

आचार्य मम्मट ने काव्य (साहित्य) के छः प्रयोजन बताए हैं –

''काव्यं यशसेऽर्थकृतेव्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तयेकान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।''

(काव्यप्रकाश, १.२)

अर्थात् काव्य का प्रयोजन है – यश, अर्थ, व्यवहार–कुशलता, अमंगल से रक्षा, आनन्द और कान्ता के समान मधुर उपदेश देना। ये छः प्रयोजन जीवन के भी सर्वमान्य प्रयोजन है। जीवन में हमें यश की आकांक्षा रहती है, अर्थ भी सभी चाहते हैं। यहाँ 'अर्थ' शब्द का अभिप्राय स्पष्ट कर लेना चाहिए। आचार्य शुक्ल के अनुसार ''अर्थ का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्य प्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ लोक की सुख–समृद्धि लेना चाहिए।'' जीवन के सुचारु संचालन के लिए व्यवहार–कुशलता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। अमंगल से रक्षा हुए बिना जीवन अभिशाप बन जाता है। मधुर उपदेश के प्रभाव के उदाहरण स्वरूप सम्पूर्ण साहित्य उपस्थित किया जा सकता है। जब अनेक नीतिशास्त्र उपदेश और ताड़ना द्वारा हमें समझाने में असमर्थ रहते हैं, उस समय भी मधुरता और कोमलता से भरी यह वाणी हमें वश में करके हमसे जो चाहती है, करा लेती है और उपर्युक्त प्रयोजनों की आवश्यकता हमें तभी पड़ती है, जब हम समाज के एक अभिन्न अंग होते हैं। वनवासी, समाज के विच्छिन्न एकान्त में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। फिर हम समाज, सामाजिक मनुष्य और साहित्य को पृथक् करके कैसे देख सकते हैं?

सम्पूर्ण इतिहास में धर्मों, संस्कृतियों और सभ्यताओं का प्राथमिक लक्ष्य हमेशा मानव जीवन को और अधिक सुंदर और आनंदमय बनाकर उसकी गुणवत्ता में वृद्धि करना रहा है। विज्ञान ने लगातार श्रम के बोझ को कम करने और मानव जाति को अधिक भौतिक और भौतिक सुख–सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयास किया है। राजनीति समाज को आर्थिक रूप से एकजुट करने और उसके कल्याण की रक्षा करने का प्रयास करती है, जबकि दर्शन आध्यात्मिक सिद्धांतों की खोज और प्रसार के माध्यम से सांसारिक भ्रम की क्षणिक प्रकृति के बारे में व्यक्तियों को प्रबुद्ध करना चाहता है। हालाँकि, इन विधाओं के सामूहिक प्रयासों को कवियों के योगदान के बिना पूरी तरह से साकार नहीं किया जा सकता है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि मनुष्य नीरस उपदेशों पर ध्यान देने के इच्छुक नहीं हैं, उन्हें वास्तव में इन शिक्षाओं से जुड़ने और उनकी सराहना करने के लिए कलात्मक अभिव्यक्ति की भी आवश्यकता होती है। भौतिक सुविधाएं और दार्शनिक आदर्श समाज के लिए समान महत्त्व रखते हैं, लेकिन सबसे बढ़कर, मनुष्य उस सच्चाई और सुंदरता का अनुभव करने और उसे अपनाने के लिए तरसते हैं, जो उनके अस्तित्व में व्याप्त है, जो उन्हें प्रगति के लिए प्रेरित करती है। जब कोई लेखक इन भौतिक सुख–सुविधाओं और दार्शनिक अवधारणाओं को कलात्मक तरीके से प्रस्तुत करता है, तो यह हमारे भीतर स्नेह और श्रद्धा की गहरी भावना पैदा करता है। यह अनुभव हमारे मन को उत्साहित करता है, हमारे कार्यों को सशक्त बनाता है, हमारे चेहरे पर खुशी बिखेरता है, हमारे दिलों में उत्साह और प्यार पैदा करता है, हमारी बुद्धि को ज्ञान से बढ़ाता है और हमारी आत्माओं को खुशी और संतुष्टि से भर देता है। कवि का सत्य हमारा सत्य बन जाता है, जो हमारे जीवन, हृदय और भावनाओं से

गूंजता है, व्यक्तियों के बीच संबंध बनाता है। इसलिए, समाज के उत्थान में साहित्य के महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता। साहित्य अन्याय, गलत धारणाओं, रूढ़िवादिता और असमानता और क्रूरता को कायम रखने वाली मान्यताओं के खिलाफ आवाज़ उठाता है। इस प्रकार, साहित्य सामाजिक प्रगति और उत्थान के लिए एक महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक बन जाता है।

हमारे सामाजिक जीवन की उन्नति, सुव्यवस्था और परिपूर्णता के लिए शान्ति और सहयोग की आवश्यकता है। आप आँख दिखाकर किसी को वश में नहीं कर सकते। केवल मधुर और कोमल वाणी ही हृदय पर प्रभाव डालती है और उसके द्वारा आप दूसरों से मनचाहा कार्य करा सकते हैं।

तुलसी इस बात को जानते थे –

''तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है परिहर वचन कठोर।।''

साहित्य का कान्ता–सम्मित मधुर उपदेश बड़ा प्रभावकारी होता है। केशव के एक छन्द ने बीरबल को प्रसन्न कर राजा इन्द्रजीत सिंह पर किया हुआ जुर्माना माफ करवा दिया था। पृथ्वीराज के साहित्यिक–पत्र के महाराजा प्रताप को पुनः अकबर से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध कर दिया था। बिहारी के एक दोहे ने मिर्जा राजा जयसिंह का जीवन बदल दिया था। आल्हा पढ़ या सुनकर आज भी वीरों के भुजदण्ड फड़कने लगते हैं। यह तो हुआ– हमारे सामाजिक जीवन के बाह्य पक्ष पर साहित्य का प्रभाव।

साहित्य में हमारे भीतर आनंद की अलौकिक भावना को प्रज्वलित करने, हमारे आंतरिक विकास को बढ़ावा देने की उल्लेखनीय क्षमता है। ऐसा करने से साहित्य हमारी बाह्य क्रियाओं और आंतरिक विचारों दोनों पर अपना प्रभाव डालता रहता है। साहित्य का हमारे जीवन की संपूर्णता और सुंदरता पर जो प्रभाव पड़ता है वह वास्तव में अविस्मरणीय है, क्योंकि यह हमारे अस्तित्व में मिठास, साज़िश और व्यापकता का स्पर्श जोड़ता है। इसके अलावा, विफलता और भ्रम के समय में, साहित्य हमारी सहायता के लिए आता है, सांत्वना प्रदान करता है और निराशा की किसी भी भावना को दूर करता है, जो हमें परेशान कर सकती है। इस तरह साहित्य एक पालन–पोषण करने वाली और सुरक्षा करने वाली माँ, एक मार्गदर्शक और सहायक पिता, एक ज्ञानवर्धक और शिक्षाप्रद शिक्षक, एक सांत्वना देने वाला और समझदार मित्र और यहाँ तक कि शुद्ध और मधुर प्रेम का प्रतीक एक प्रिय व्यक्ति की भूमिका निभाता है। साहित्य के माध्यम से ही हमारा जीवन आपस में जुड़ जाता है और अविभाज्य हो जाता है, एक अटूट संबंध बनता है, जो हमारे अस्तित्व को आकार देता है।

समाज और साहित्य का संबंध सदियों से चला आ रहा है, जब से साहित्य का उदय हुआ है। वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य रामायण में एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का चित्रण किया है और अपने दृष्टिकोण के आधार पर समाज के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की है, और उस मार्ग का खुलासा किया है जो मानवता के लिए पूर्ण संतुष्टि और खुशी की ओर ले जा सकता है। इसी प्रकार, तुलसी भी अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित थे और उन्होंने रामराज्य की अवधारणा, शासन का एक आदर्श रूप और राम परिवार को समाज के लिए आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया। इसके पीछे कारण यह है कि कवि और लेखक समाज की स्थिति, पर्यावरण, धर्म, रीति–रिवाजों और सामाजिक मानदण्डों से प्रेरणा लेते हैं और उन्हें अपने आदर्शों के अनुसार अपनी रचनाओं में शामिल करते हैं। लेखक उस समाज की उपज होते

हैं जिसमें वे पैदा होते हैं और वे मुद्दों को संबोधित करते हैं और अपने समाज के मूल्यों और सिद्धांतों के आधार पर अपने आदर्श स्थापित करते हैं। उनका शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास उस सामाजिक वातावरण से निर्धारित होता है जिसमें वे रहते हैं। नतीजतन, लेखक उस समाज का चित्रण करते हैं जिसका वे हिस्सा है। चाहे वे अपने चित्रण के माध्यम से एक आदर्श समाज की स्थापना करने का प्रयास करते हों या चिंतन के लिए जगह छोड़ते हुए उसे वैसे ही प्रस्तुत करते हों, पूरे इतिहास में उनका सम्मान किया जाता है। दूसरी ओर, कुछ लेखक समाज के अपने सटीक चित्रण के माध्यम से कोई सुझाव या आदर्श प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं और समाज उन्हें जल्द ही भुला देता है। इसके अतिरिक्त, ऐसे लेखक भी हैं जो अपने युग और समाज की उपेक्षा करते हैं, विदेशी लेखकों की नकल करते हैं और ऐसा साहित्य रचते हैं जो उनके समय की वास्तविकताओं को प्रतिबिंबित नहीं करता है। ऐसा साहित्य केवल अस्थायी होता है और उसका स्थायी प्रभाव नहीं होता।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। लेकिन कुछ साहित्य-प्रेमी इस प्रतिबिम्ब में अपनी रसिक आकृति के सिवा और कुछ भी नहीं देखना चाहते। वे इस बात का विरोध करते हैं कि साहित्य में सौन्दर्य के और वह भी निष्क्रिय सौन्दर्य के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का चित्रण होना चाहिए, क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्य केवल हमारे मनोरंजन का साधन है न कि हमें उसमें उपयोगिता ढूँढनी चाहिए। ऐसे साहित्य प्रेमी-रसिकों की भर्त्सना करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने उचित ही कहा है कि "यदि रसिक गण दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं तो उन्हें साहित्य की परिभाषा बदल देनी चाहिए। तब कहना चाहिए कि साहित्य वह दर्पण है जिसमें समाज के उन विशेष लोगों की ही शक्ल दिखाई देती है- जो दुपल्ली टोपी लगाये, पान खाये, सुरमा रचाये, इस दुनिया से दूर नायिका-भेद के संसार में विचरण करते हैं। इन साहित्य-मर्मज्ञों के हृदय इतने सहृदय हो गये हैं कि जिस बात से ७० करोड़ जनता के हृदय को ठेस लगती है, वह उनके मर्म को छू भी नहीं पाती। इनका कुसुम-कोमल हृदय नकली गर्मी से उगने वाले पौधों की तरह एक कृत्रिम साहित्य की उत्तेजना पाकर ही विकसित होता है। ये लोग कहें तो ठीक ही होगा कि लेखकों को जनता से दूर रहना चाहिए।"

इस प्रकार साहित्य और समाज निरन्तर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। दोनों आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-भाव चलता रहता है। इसी से सामाजिक उन्नति की आधारशिला दृढ़ बनती है। संसार में अभी तक हुए सम्पूर्ण परिवर्तनों या विप्लवों के मूल में कोई-न-कोई विचारधारा कार्यरत रहती आयी है।

हालाँकि, इसके विपरीत, साहित्य सदैव मानव जीवन में सुख और शांति का स्रोत रहा है। कबीर और तुलसी की जैसी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। मानस ने कई निराश और भयभीत दिलों को सांत्वना दी, उन्हें जीवन की चुनौतियों का सामना करने का साहस दिया। गुरु रामदास और महाराष्ट्रीयन संतों की शिक्षाओं के साथ-साथ भूषण जैसे कवियों की उत्थानकारी रचनाओं ने महाराष्ट्र की प्रगति में योगदान दिया। प्रेमचंद के साहित्य ने हमारी सामाजिक और राजनीतिक चेतना पर गहरा प्रभाव डाला, जबकि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों ने हमारे गौरवशाली अतीत पर गर्व की भावना पैदा की और हमें हमारी गरीबी की वर्तमान स्थिति में सुधार करने के लिए प्रेरित किया। हमारे अपने इतिहासकारों द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक कार्यों ने विदेशियों द्वारा स्थापित इस धारणा को खारिज कर दिया कि हमारे पूर्वज बर्बर थे। पूरे इतिहास में, साहित्य ने समाज

को लगातार प्रभावित किया है। नीत्शे जैसे जर्मन् दार्शनिकों द्वारा प्रचारित विचार, जो शक्ति और उनकी सभ्यता के विस्तार का महिमा मंडन करते थे, यूरोप में कई विनाशकारी युद्धों के लिए जिम्मेदार थे। वीरता के उनके प्रेरक छंदों ने उनके अनुयायियों को उकसाने और उन्हें हिंसा के कृत्यों के लिए प्रेरित करने का काम किया। इसी प्रकार, जो लेखक भौतिकवाद और सतहीपन का अत्यधिक महिमा मंडन करते हैं, वे केवल विलासिता और अपव्यय की इच्छा को बढ़ावा देते हैं। इसके विपरीत, हमेशा ऐसे लेखक रहे हैं, जो किसी विशेष सभ्यता या संस्कृति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए उसके चित्रण को विकृत करते हैं। यह रणनीति इंग्लैंड के शासकों और साहित्यिक विरोधियों द्वारा आयरलैंड में स्वतंत्रता के संघर्ष को दबाने के अपने प्रयासों में अपनाई गई थी। उन्होंने आयरिश लोगों के बीच ऐसा साहित्य प्रसारित किया जिसने उनके जातीय साहित्य और संस्कृति को कमजोर कर दिया, जिससे वे अपने अतीत को निंदनीय मानने लगे और शासक वर्ग के प्रति अधीनता की भावना पैदा हुई। पार्नेल के राजनीतिक कैरियर की समाप्ति के बाद, आयरिश देशभक्तों को इस हानिकारक और असामान्य स्थिति के बारे में पता चला, जिससे उन्हें साहित्यिक प्रथाओं के माध्यम से आयरिश संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्रयास करने को प्रेरित किया गया। साहित्य विभिन्न जातियों, संप्रदायों और धर्मों की मान्यताओं और विचारों से आकार लेता है। उदाहरण के लिए जो मुसलमान मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, उनकी साहित्यिक परंपरा में नाटकों का स्पष्ट अभाव है। इसी प्रकार, तुलसी और मिल्टन के लेखन में बहुत भिन्नता है, क्योंकि वे प्रत्येक अपने-अपने समाज के रीति-रिवाजों और नैतिकता को दर्शाते हैं। जबकि एक साहित्य दूसरे को कुछ हद तक प्रभावित कर सकता है, प्रत्येक जाति की अपनी अनूठी विशेषताएँ होती हैं, जो उसके साहित्य में चित्रित होती हैं। आयरिश लेखकों ने अंग्रेजों द्वारा फैलाए गए हानिकारक प्रचार का पर्दाफाश किया और अपनी संस्कृति, इतिहास और अपने देश की महानता का जश्न मनाया। अंग्रेजों ने भारत में भी ऐसी ही रणनीति अपनाई, जहाँ लॉर्ड मैकाले जैसे अंग्रेजी लेखकों ने भारतीय इतिहास, भाषा, संस्कृति और साहित्य के बारे में आधारहीन और बेतुकी जानकारी फैलाई। इससे भारतीयों में अपनी विरासत के प्रति हीनता और उपेक्षा की भावना पैदा हुई, जबकि अंग्रेजी और उनके जीवन के तरीके के प्रति गहरा सम्मान पैदा हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग चालीस वर्ष बाद आज भी हम इस मानसिकता से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। साहित्य और समाज के घनिष्ठ संबंध के बावजूद दोनों में थोड़ा अंतर है। समाज जीवन की एक सतत् धारा है, जिसमें असंख्य ज्ञात और अज्ञात घटनाएँ हैं। साहित्य इस धारा से प्रेरणा लेता है, इसके जीवनदायी और रमणीय सार को ग्रहण करता है। जबकि समकालीन समाज निश्चित रूप से साहित्य को प्रभावित करता है, लेखक केवल वर्तमान से चिंतित नहीं होते हैं। वे अतीत से प्रेरणा भी लेते हैं और भविष्य की कल्पना भी करते हैं। महान् कलाकार समय और स्थान की सीमाओं से परे जाकर सार्वभौमिक समाज का चित्रण करते हैं। उनके लिए समसामयिक और स्थानीय जीवन का महत्त्व केवल तभी तक है, जब तक वे विशाल, कालातीत वास्तविकता को समझने में योगदान करते हैं। इसके अतिरिक्त, साहित्य में अक्सर विशिष्ट विवरण शामिल होते हैं, जो वास्तविक जीवन से मेल नहीं खाते। ऐसा इसलिए है, क्योंकि साहित्य न केवल मानव जीवन को बल्कि उन इच्छाओं और आकांक्षाओं को भी समाहित करता है जो भौतिक जगत् में पूरी नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार, साहित्य जीवन की अपूर्णताओं को भरता है, इसे अधिक ठोस और पूर्ण बनाता है और जीवन के लिए एक मार्गदर्शक और नियामक के रूप में कार्य करता है।

सन्दर्भ

- हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. ९१
- साहित्य और समाज, डॉ. आर.पी. वर्मा, पृ. ५८
- हिन्दी साहित्य का वस्तुपरख इतिहास, रामप्रसाद मिश्र, पृ. १५५
- साहित्य और समाज का एक मूल्यांकन, डॉ. राजीव शर्मा, पृ. १२५
- आधुनिक समाज में साहित्य और समाज की भूमिका, प्रो. राजकुमार कुरील, पृ. २५
- साहित्य समाज का अवधारणा, डॉ. चित्रलेखा, पृ. ९५

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

प्रेमचन्द साहित्य की दशा और दिशा

सुनीता जाट*

प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के ऐसे श्रेष्ठतम एवं महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। जिनके साहित्य में दमन, उत्पीड़न, वैमनस्य और शोषण आदि सामाजिक बुराइयों की हर अवस्था तथा परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण और प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। उन्होंने अपने साहित्य में उन समस्याओं और मान्यताओं को चित्रित किया है जो जमींदार, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, पूँजीपति, किसान, मजदूर व अनेक प्रकार की सामाजिक बुराई और समाज से बहिष्कृत व्यक्तियों के जीवन को संचालित करती है। प्रेमचन्द का साहित्य एक प्रकार से भारतीय मध्यवर्ग के विकास का प्रस्थान है। प्रेमचन्द का युग राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक व सामाजिक विषमताओं का युग था। देश परतंत्रता की बेडियों में जकड़ा हुआ था। बुनियादी ढाँचे में बुरी तरह से उथल-पुथल हो चुकी थी। अंग्रेजों की कूटनीति व अत्याचार ने भारतीय जनता को प्रताड़ित कर रखा था तथा उनकी साम्राज्यवादी व सामन्तवादी नीतियों ने भारतीय जनता की नींदें उड़ा दी थीं। हर तरफ अराजकता व साम्प्रदायिकता का माहौल था जिसके द्वारा देश में बँटवारे का प्रयत्न किया जा रहा था। इन्हीं परिस्थितियों के चलते हिन्दी साहित्य जगत् में प्रेमचन्द का पदार्पण हुआ और साथ ही समाज में क्रान्ति के युग का सूत्रपात हुआ। प्रेमचन्द ने दस उपन्यास व लगभग तीन सौ कहानियों की रचना की। एक ऐसा साहित्यकार जिसके पास साधन और अवकाश की हमेशा कमी रही, उसके लिए यह एक भारी सफलता थी ऐसी कठिन परिस्थितियों में दस हजार से भी अधिक पृष्ठ लिखना आश्चर्य की बात है। इससे यह बात स्पष्ट है कि साहित्य सृजन के लिए उनमें अद्‌भुत प्रतिभा और लगन थी प्रेमचन्द ने उस समय की राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व सामाजिक विषमताओं को गम्भीरता से महसूस किया और अपने साहित्य के माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत किया। उनका ध्यान सदैव समाज में नवीन चेतना लाने की ओर रहा यही कारण है कि उनके साहित्य के पात्र मानवता, प्रेम, दया व राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण दिखाई देते हैं।

अतः प्रेमचन्द युगीन मध्यवर्गीय समाज की दशा और उसकी दिशाएँ विचार काल की सीमा से हटकर अभी तर्क-वितर्क के मध्य बनी हुई हैं शायद यही कारण है कि प्रेमचन्द ने समाज के अन्दर फैले दमन, उत्पीड़न, गरीबी, शोषण, वर्ग की भावना व ईर्ष्या आदि बुराईयों का चित्रण अपने साहित्य में प्रस्तुत कर उसका तार्किक समाधान खोजने का प्रयास किया इसी कारण वश जनता उनकी ओर आकर्षित हुई। वर्तमान समय में वर्ग की दृष्टि से धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक सभी क्षेत्रों में बदलाव हो रहे हैं। विभिन्न वर्गों में भेद-भावना का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। रोजगार के नये-नये अवसर मिल रहे हैं, औद्योगिक कार्य तेजी से हो रहा है, समाज में रोज नई-नई चेतना जाग्रत हो रही है। देश दिन-प्रतिदिन ऊँचाइयों की ओर बढ रहा है। पुराने मूल्य नये प्रतिमान की जगह ले रहे हैं। जिसके परिणामस्वरूप

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, राज ऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय, अलवर, राजस्थान

प्रेमचन्द का साहित्य आज भी प्रासांगिक और नई दिशा की ओर अग्रसर है।

प्रेमचन्द ने कथा साहित्य में समकालीन मध्यवर्गीय समाज की दशा और दिशा का चित्रण है। वर्तमान समय में देश अनेक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक आदि समस्याओं से लड़ रहा है। आज भी रूढ़िवादी विचारधारा के लोग अपने फायदे के लिए देश को वर्ग-भावना के आधार पर बाँट कर देश की सुख-शान्ति को भंग करने में लगे हुए हैं अर्थात् वे लोग वर्ग भावना के आधार पर देश के कई हिस्से करना चाहते हैं। फलस्वरूप प्रेमचन्द के कथा साहित्य में मध्यवर्गीय समाज की दशा व दिशा के अध्ययन की महत्ता तथा प्रासंगिकता और भी अधिक बढ़ जाती है।

प्रेमचन्द का प्रवेश हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक युगान्तकारी घटना के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। हिन्दी साहित्य के वे ऐसे प्रथम उपन्यासकार हैं; जिन्होंने एक आदर्श साहित्यकार के रूप में सम्पूर्ण भारतीय मध्यवर्ग के जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य किसान, मज़दूर, गरीबी की समस्या, गाँव की आर्थिक विषमता से ग्रस्त लोग, मध्यवर्ग ज़मींदार, निम्नवर्ग, उच्चवर्ग व सामन्तवादी नीति का मर्म स्पर्शी चित्रण है। किसी भी युग का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक जीवन एक दूसरे से परस्पर जुड़ा होता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में इन सभी परिस्थितियों से सम्बन्धित समस्याओं तथा उनके समाधान का व्यापक और यथार्थ चित्रण अंकित किया है।

प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग द्वारा नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा पर ज़ोर दिया; क्योंकि उनकी नैतिक मूल्यों में गहरी आस्था थी। उनके उपन्यास के मध्यवर्गीय पात्र नैतिक मूल्यों को लेकर चलते हैं। हमेशा सत्य की जीत दिखलाना उनका जीवन दर्शन था। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण) में भारतीय समाज के उभरते मध्यवर्ग के नैतिक आदर्शों को स्थापित किया है, किन्तु प्रेमचन्द की आदर्शवादी दृष्टि 'मंगलसूत्र' उपन्यास की रचना तक छूट चुकी थी जिसका साम्य 'मंगलसूत्र' उपन्यास का नायक देवकुमार है।

प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द अपने किसी भी उपन्यास में मध्यवर्ग को नहीं भूले, बल्कि अधिकतर रचनाएँ मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित हैं। उन्होंने मध्यवर्गीय समाज के प्रत्येक दृष्टिकोण व समस्याओं को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। 'प्रतिज्ञा' में अमृतराय, सुमित्रा, प्रेमा व कमला प्रसाद ('वरदान' में प्रताचन्द, विरजन ('सेवासदन' में कृष्णचन्द, सुमन, गजाधर ('प्रेमाश्रम' में ज्वालासिंह, ईमानअली ('निर्मला' में निर्मला, तोताराम भुवनमोहन ('रंगभूमि' में ताहिर अली, डॉ. मांगुली ('कायाकल्प' में अहिल्या, चक्रधर ('गब्रन' में जालपा, रमानाथ, रतन, रमेश ('कर्मभूमि' में शान्तिकुमार, रमाकान्त, सुखदा ('गोदान' में मालती, मेहता ('मंगलसूत्र' में देवकुमार, संतकुमार पुष्पा व साधुकुमार) आदि सभी पात्र मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले अविस्मरणीय पात्र हैं, जिनके चारों ओर मध्यवर्गीय समाज की प्रत्येक परिस्थिति घूमती हुई दिखायी देती है। अतः 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण) तक मध्यवर्ग की समस्याओं को एक विस्तार मिलता गया है। यदि हम प्रेमचन्द युग से लेकर वर्तमान समय में मध्यवर्ग पर दृष्टि डालें तो कुछ समस्याओं का समाधान तो हमें मिलता है; किन्तु कुछ समस्याएँ वैसी-की-वैसी ही बनी हैं। इनका कारण हम व्यक्तिगत सोच को भी कह सकते हैं जबकि आज शिक्षा, आधुनिकीकरण, तकनीकी, विज्ञान व नये-नये अविष्कारों का युग है और इन समस्याओं के चलते भी हम मध्यवर्ग की भूमिका प्रेमचन्द युग से पहले, प्रेमचन्द युग में विदेश के सबसे

बड़े स्वतंत्रता संग्राम के लिए एक दृढ़ संकल्प के रूप में देख सकते हैं साथ ही यह वर्ग सदैव राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाला वर्ग रहा है जिसने देश की उपलब्धि में अपना पूरा योगदान दिया।

अतः स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने अपने सभी उपन्यासों के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है। मध्यवर्ग के प्रति उनके हृदय में विशेष सहानुभूति थी। वह स्वयं एक मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्धित थे। प्रेमचन्द सदैव आर्थिक समस्याओं को दूर करना चाहते थे। वे समाज में ऐसी व्यवस्था चाहते थे जहाँ एक वर्ग दूसरे वर्ग को शोषित न कर सके। शोषण की समस्या आर्थिक विषमता पर आधारित थी और आर्थिक विषमता का मुख्य कारण आय का सुनिश्चित न होना था। मध्यवर्ग को अपने परिश्रम का उचित मूल्य नहीं मिल पाता था। प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए पूरी अर्थ–व्यवस्था में सुधार की माँग की।

प्रेमचन्द का समय १९०५ से लेकर १९३६ ई. तक है। इस समय देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति अत्यन्त सोचनीय थी, यह समय भारतीय जनता के राष्ट्रीय संघर्ष का समय था। गुलामी के कारण भारत का विकास रुका हुआ था। चारों ओर अराजकता और अस्थिरता का वातावरण था। प्रेमचन्द युगीन परिस्थितियों और उनके उपरान्त डॉ. रामविलास शर्मा का विचार है कि ''प्रेमचन्द हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीय चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। जब उन्होंने लिखना शुरू किया था तब संसार पर पहले महायुद्ध के बादल मँडरा रहे थे जब मौत ने उनके हाथों से कलम छीन ली तब दूसरे युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं। इस बीच विश्व मानव संस्कृति में बहुत से परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से हिन्दुस्तान भी प्रभावित हुआ और उसने उन परिवर्तनों में सहायता भी की।''[१]

अतः प्रेमचन्द के शुरुआती दौर से लेकर आखिरी दौर तक देश में अनेक राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन हुए जिसके फलस्वरूप मानव संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। जिससे हिन्दुस्तान की जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। प्रेमचन्द का युग राजनीतिक संघर्ष का युग था, इस समय अंग्रेज़ी राज्य पूर्णतया स्थापित हो चुका था। यद्यपि भारत में राष्ट्रीय चेतना एवं राजनीतिक संघर्ष का प्रारम्भ १८५७ के देशव्यापी आन्दोलन से शुरू हो चुका था, जिसे अंग्रेज़ों ने सैनिकों का विद्रोह कहा। यद्यपि यह गदर या विद्रोह न होकर अंग्रेज़ों के खिलाफ भारतीयों की एकजुटता का प्रथम प्रयास था। सन् १८५८ ई. में महारानी विक्टोरिया की घोषणा के बाद ईस्ट इडिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया और भारतीय शासन ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के हाथ में चला गया। लेकिन महारानी विक्टोरिया के घोषणा–पत्र को पूरी तरह से कार्यरूप में परिणित नहीं किया गया, इससे भारतीयों में फिर एकबार असंन्तोष जागने लगा। ब्रिटिश राज्य में कूटनीति और दमनचक्र पूरी तरह से चल रहा था। जवाहरलाल नेहरू 'हिन्दुस्तान की कहानी' में लिखते हैं कि ''वह नीति, जो ब्रिटिश राज्य के युग में बराबर जानबूझकर बरती गयी, जिसमें हिन्दुस्तानियों में फूट डाली गयी और एक गिरोह को दूसरे गिरोह पर चोट पहुँचाते हुए बढ़ावा दिया गया। ब्रिटिश राज्य के शुरू के ज़माने में इस नीति को खुले तौर पर मंज़ूर किया और असल में एक साम्राज्यवादी ताकत के लिए यह नीति स्वाभाविक थी। राष्ट्रीय आन्दोलन की तरक्की के बाद उस नीति ने एक फ़ितरती और ज़्यादा ख़तरनाक शक्ल ले ली और हालाँकि उस नीति की मौजूदगी को माना नहीं गया, लेकिन उसे पहले से ज्यादा तेज़ी के साथ बरता गया।''[२]

अतः इन परिस्थितियों में ए.ओ. ह्यूम जैसे कुछ व्यक्तियों ने जनता के असन्तोष को कम करने की

बात कही। इस सिलसिले में वह एक ऐसी संस्था बनाना चाहते थे जो जनता और शासन में सामंजस्य स्थापित कर सके और जनता की बात को शासन तक पहुँचा सके। इसी उद्देश्य को ए.ओ. ह्यूम की सहृदयता तथा प्रयासों की वजह से "सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना हुई।"[३] इस दृष्टि से प्रारम्भ में कांग्रेस का उद्देश्य शासन के क्रिया-कलापों की आलोचना मात्र था और अधिकतर उच्च वर्ग के लोग ही इसमें सम्मिलित थे इससे लाभ भी उन्हीं लोगों को हुआ। सरकार चाहती भी ऐसा ही थी वह भारतीय जनता को बाँटना चाहती थी, उच्च-मध्यवर्ग, अमीर-गरीब, जाति-धर्म आदि के आधार पर। उस समय अधिकतर उच्च शिक्षित वर्ग उनसे प्रभावित भी था; क्योंकि उनको सम्मान और सुख-साधन आदि देकर वह उनको अपने करीब रखना चाहती थी ताकि भारतीयों पर आसानी से राज्य कर सके।

आज हमारे समाज में जो वैमनस्य, भेदभाव की भावनाएँ हैं वह अंग्रेज़ों की देन हैं - "हमारी आज की करीब-करीब सारी बड़ी समस्याएँ, मसलन राजा और नवाब, अल्पसंख्यक समस्या, विभिन्न देशी-विदेशी स्वार्थ, उद्योग धन्धों का अभाव, खेती की अवहेलना, समाज सम्बन्धी नौकरियों का बेहद पिछड़ापन और जनता की भयंकर गरीबी, ब्रिटिश राज्य के दौरान ही ब्रिटिश नीति के परिणाम स्वरूप ही पैदा हुई हैं।"[४]

अतः स्पष्ट है कि अंग्रेज़ अपनी भेदनीति, सांप्रदायिकता, सामन्तवाद को पकड़कर देश की जनता पर अंकुश लगाना चाहते थे। वे देश को विभिन्न जातिगत, धार्मिक व आर्थिक वर्गों में विभक्त कर देश के विकास को रोकना चाहते थे, लेकिन उनकी दमन नीति से राष्ट्र को तोड़ना आसान न था। अंग्रेज़ों द्वारा फैलाये गये हिन्दू-मुस्लिम दंगों के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम एकता थी किसान मज़दूर अपनी दयनीय स्थिति से आन्दोलन के लिए अग्रसर थे साथ ही युवा शिक्षित वर्ग पूरी तरह से अपने देश को आज़ाद कराना चाहता था। सारे देश में आन्दोलन की आग भड़क रही थी और अंग्रेज़ों की नीतियों ने इसे और भी भयंकर रूप देने में मदद की। प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' उपन्यास में इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। इस समय भी कुछ लोग यही समझ रहे थे कि अंग्रेज़ों के बिना हमारा भारत अनाथ है हम उनके बिना विकास नहीं कर सकते।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनसे पहले जो उपन्यास लिखे गए उन्होंने उनकी दिशा बदल दी। प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकारों ने प्रेमचन्द-युग की उपन्यास चेतना को एक नया मोड़ दिया। इस प्रकार उपन्यास परम्परा के तीन चरण देखने में आते हैं- प्रेमचन्द-पूर्व युग, प्रेमचन्द-युगीन और प्रेमचन्दोत्तर-युग। प्रेमचन्द-युग का आरम्भ सन् १९१२ से १९३६ तक माना जाता है। साहित्य और समाज अन्योन्याश्रित है। प्रेमचन्द-युग में सामाजिक परिवर्तन द्रुतगति से होना प्रारम्भ हो गया था, परन्तु अधिकांश लोग रूढ़िवादिता का दामन थामे हुए थे।

इसी युग में महात्मा गांधी के विभिन्न आन्दोलनों का विशिष्ट महत्त्व था। विदेशी शासकों के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाते हुए देश में समाज के शोषक वर्ग के प्रति भी विद्रोह की भावना पनपने लगी थी। गांधी जी के प्रयासों ने भी धीरे-धीरे जनमानस को परिवर्तित करना आरम्भ कर दिया था। समाज में एक बड़ा आन्दोलन चला। सत्य, अहिंसा, सेवाभाव, प्रेम और सद्भाव आदि अनेक व्यक्तियों के आचरण का अंश बन गए। इन गांधीवादी विचारों का प्रभाव प्रेमचन्द के साहित्य में देखा जा सकता है। नारी उत्पीड़न की समाप्ति के प्रयास, विधवा-विवाह का समर्थन और बाल-विवाह का विरोध तद्युगीन समाज की बदलती

दृष्टि के परिचायक हैं। सारांशतः प्रेमचन्द-युग अपने पूर्व युग की अपेक्षा अधिक जागरूक काल था उस समय जागृत के बीज अंकुरित होने लगे थे इन सभी के बीच प्रेमचन्द का लेखन उद्देश्यपरक था केवल मनोरंजन उनका ध्येय नहीं था अनेक परिस्थितियों को उजागर करने के साथ-साथ उनके उपन्यासों में मध्यवर्ग के प्रति सहानुभूति सही अर्थों में उभरकर सामने आती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में समस्याओं के आदर्शवादी समाधानों का महत्त्व उत्तरोत्तर कम होता गया और यथार्थ क्रमशः प्रमुख तथा व्यापक होता गया। प्रेमचन्द समाज में दो ही वर्ग स्वीकार करते हैं - शोषक और शोषित। 'महाजनी-सभ्यता' शीर्षक लेख उनकी इस वर्गीय-दृष्टि को स्पष्ट कर देता है।

प्रेमचन्द प्रायः कृषक एवं ग्रामीण जीवन के कुशल लेखक माने जाते हैं। यद्यपि उनके उपन्यासों में तत्कालीन जन-जीवन को व्यक्त करने वाली समस्याओं का चित्रण भी व्यापक रूप से हुआ है। प्रेमचन्द समस्याओं के चुनाव में सतर्क रहे हैं। उनके उपन्यासों में पराधीनता, ज़मींदारों, पूँजीपतियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों के शोषण, निर्धनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, दहेज-समस्या, सांप्रदायिक मन-मुटाव, छुआ-छूत, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-समस्या आदि का चित्रण और समाधान पर्याप्त रूप से हुआ है। प्रेमचन्द समाज में मध्यवर्ग की सकारात्मक भूमिका के महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे। उनके उपन्यासों में प्रमुख पात्र ज़मींदार या किसान भले ही केन्द्रिय भूमिका में हो, किन्तु मध्यवर्ग की अनदेखी नहीं हुई है। यद्यपि उनके युग में मध्यवर्ग का विकास पूर्णतः नहीं हुआ था। उनके पात्र उभरते मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे। 'सेवासदन' की सुमन, 'गबन' का रमानाथ, जालपा, 'कर्मभूमि' का अमरकान्त, 'निर्मला' उपन्यास के वकील तोताराम, 'गोदान' के मालती और मेहता व 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण) का देवकुमार प्रेमचन्द के ऐसे प्रमुख पात्र हैं जो मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतः प्रेमचन्द द्वारा रचित 'प्रतिज्ञा' उपन्यास से लेकर 'गोदान' तक सभी उपन्यासों में मध्यवर्ग का चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द जैसे उदार समाजसेवी व आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी उपन्यासकार पर पूरे भारत को ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया को गर्व है। हिन्दी जगत् में उनका नाम सदैव अमर रहेगा।

सन्दर्भ

१. शर्मा, डॉ. रामविलास, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७, पृ. ७
२. टण्डन, रामचन्द्र (सम्पादक), हिन्दुस्तान की कहानी, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, १९४७, पृ. ३५७
३. गुप्त, रामदीन, प्रेमचन्द और गांधीवाद, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली, १९८८, पृ. १०५
४. टण्डन, रामचन्द्र (सम्पादक), हिन्दुस्तान की कहानी, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, १९४७, पृ. ३७७

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

श्रीराम परिहार के ललित निबंधों में चित्रित लोकगीतों का अनुशीलन

सुमन कुमारी*, प्रो. (डॉ.) प्रभा शर्मा**

मनुष्य जब से समुदाय से जुड़कर जीवन-यापन करने लगा और चारों ओर की प्रकृति से संवेदनशील होने लगा तब लोक संस्कृति, कला और साहित्य का जन्म हुआ। लोक साहित्य श्रुति और स्मृति द्वारा आदिमकाल से वर्तमान युग तक निरंतर स्रोतस्विनी की भाँति प्रवाहित होकर आया है। जिसे कृतियों में बाँधने के प्रयास जारी है। इतना ही नहीं लोक साहित्य और संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन भी किया जा रहा है। प्रस्तुत आलेख में श्रीराम परिहार के ललित निबंधों में चित्रित लोकगीतों का अनुशीलन किया गया है।

''गीत साहित्य की सर्वाधिक सबल कोमलतम अभिव्यक्ति है। लोकगीतों में संपूर्ण रूप से लोक संवेदना व्यक्त होती है। जिस तरह मेदिनी में स्वाभाविक सुगंध व्याप्त होती है, परन्तु पावस की रिमझिम फुहार पड़ते ही वह सौंधी सुगंध स्वमेव ही प्रस्फुटित होने लगती है उसी प्रकार किसी भी देश की लोक संस्कृति वहाँ के लोक गीतों में आभासित होती है और लोकगीतकार वहाँ की संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, तीज-त्योहार संबंधी विविधताओं का प्रत्यक्ष दिग्दर्शक बनकर उन्हें लोकगीतों में चिरकाल तक अक्षुण्ण बनाए रखता है।''[१] डॉ. परिहार भी इसी प्रकार निबंधों में अपने लोकगीतों के माध्यम से संस्कृति प्रस्तुत करने में सफल दिखाई देते हैं। पावसिया सांझ पुरवैया, बिजुरी, बदरा सब एक-एक करके प्रेमाकुल नायिका को सँवारने-संभालने लगते हैं।

सांझ से आंजिदयो कजरा, भौंह पे काम कमान चढ़ायी,
केशन बीच बंधे बदरा, पुरवैया ने जूड़े में गांठ लगायी।
मांग में दामिनी-सी दमके, दुति आनन देखि घटा घिर आयी,
नेह के नीर भरे बदरा, ढरकाइबे को बरखा ऋतु आयी।''[२]

भारत की प्रत्येक माता के लिये अपना बेटा कृष्ण होता है। जननी अपने कन्हैया के उन्नीदे बदन और माखन माँगते हाथों को देखकर गाने लगती है -

''महिड़ा को घमको लाग्यो, म्हारो मोहन जाग्यो।
मोहन जाग्यो, कन्हैया जाग्यो,
हाथ उठाइ लोणी मांग्यों, म्हारो मोहन जाग्यो।''[३]

---

* शोधार्थी, हिन्दी विभाग, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान
* आचार्य एवं शोध निर्देशक, राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान

सावन के महीने में गाँव की सारी बहू-बेटियाँ-माताएँ समूह में किसी खेत में जाती हैं। गाँव के मुखिया की पत्नी या पटलन को पुरुष के वस्त्र पहनाए जाते हैं तथा वह बैलों को टिटकारती हुई खेत में हल चलाती है। शेष स्त्रियाँ जीवन की धड़कन को ऊर्जावान स्वर देकर गाती है -

''गऊवा जो बछुआ फिरी रह्या बन-बन
इनख नहीं मिलती हरी-हरी घास।
सारी जनता तुमख मनई रही
तुम हमसी क्यों रूठी रह्या राज।
गाँव का किरसाण झूर दे इन्दर राजा
एक दिन आइन वरसों महाराज।''[४]

डॉ. परिहार निमाड़ क्षेत्र के मूल निवासी हैं इसीलिए उनके ललित निबंधों में निमाड़ी बोली के लोकगीत यथा-स्थान देखे जा सकते हैं। ये लोकगीत निमाड़ क्षेत्र में प्रत्येक पर्व और त्योहार पर सुनने को मिल जाते हैं। विवाह के समय हल्दी लगाना, भारत के मूल निवासी निषादों ने ही आरंभ किया (निषाद बांसुरी) निमाड़ में शिशु के जन्म के अवसर पर यह गीत गाया जाता है -

एक पेलो रे लईन आओ रे दादाजी म्हारा,
हीट अम्हारी मन अभरात जी।।
(हे मेरे दादाजी, तुम एक पीला वस्त्र लेकर आओ,
ताकि मेरे मन की अभिलाषा पूर्ण हो।)''[५]

डॉ. परिहार लोक संस्कृति के उन्नायक और प्रबल पक्षधर हैं। लोकगीत उनकी रग-रग में बसा है। निमाड़ क्षेत्र के होते हुए भी वे केवल निमाड़ी के नहीं हैं, बल्कि भारत के अन्य क्षेत्रों से भी लगाव रखते हैं। उन्होंने बिहारी, राजस्थानी, अवधी, बघेली आदि बोलियों के लोकगीतों को अपने निबंधों में समाहित किया है।

अवधी का एक लोकगीत है जिसमें भाई बहन के घर जाता है, बहन अपनी सास से पूछती है - ''मेरा भाई आया है उसे क्या बनाकर खिलाऊँ? ये कोदो रखा है और चकवा का साग है। यही बना दे। बहन कहती है- माताजी घर में सब कुछ है फिर मैं ऐसा क्यों करूँ? मेरी माँ मेरे भाई की थाली ईंगुर से माँजती है। जब वह भोजन करने बैठता है, चंदन का चौक पूरती है, पंखा झालती है, खाते समय घी की धार उसकी थाली में डालती है, मेरे ऐसे भाई को कोदो की रोटी और चकवा का साग बनाकर कैसे खिलाऊँ? वह भोजन बनाती है, उसका भाई और पति साथ-साथ खाने बैठते हैं, भाई उदास है। बहन पूछती है-भैया तू उदास क्यों है? क्या तुझे माँ का कलेवा याद आ रहा है, या भाभी की याद आ रही है? भाई कहता है- नहीं बहन, ऐसी कोई बात नहीं है। मै तो यह देख रहा हूँ, जैसे सोनी की दुकान पर सोना जलता है, लुहार की दुकान पर लोहा जलता है, वैसे ही ससुराल में बहन जलती है। वह कहती है- भैया मेरा यह दु:ख किसी से जाकर मत कहना। माँ से मत कहना, नहीं तो वह रो-रो कर मर जायेगी। बाबा से मत कहना, नहीं तो सभा में बैठकर पछतायेंगे, लुहरी बहन से मत कहना नहीं तो वह ससुराल नहीं जायेगी। मेरी भाभी से मत कहना, नहीं तो वह ताना मारेगी और गाँव के लोगों से भी मत कहना, नहीं तो वे झगड़ा

करते समय बोल मारेंगे। मेरी यह विपत की गठरी गंगा-यमुना के बीच ले जाकर छोड़ देना।

''सोनवा तो जर बहिनी सोनवा दुकनिया,
बहिन जरई ससुरिया हो राम।
लोहवा तो जर बहिनी लोहरा दुकनिया,
बहिनी जरई ससुरिया हो राम...
हमरी विपत गठरिया मोरे बीरना,
गंग-जमुन बीच छोरेहु हो राम !''[६]

उपर्युक्त गीत अंत तक बड़ा करुण हो जाता है और करुणा में ही उसका सारा सौन्दर्य है।

ग्रामीण बालाएँ पीपल के पेड़ के नीचे आकर अनब्याही अल्हड़ निष्ठा तथा विश्वास के तारों को जोड़कर गाती हैं -

''दूरई गरजअ दूरई बरसअ रे इन्दर राजा
धरती अबोलो क्यों लियो हो राज।
खयड़ा-बयड़ा की जुआर सूखअरे इन्दर राजा
प्यासी ओ मरअ गोया की गाय।
हम कसा आवां हो निमाड़ी राणी
नतरेली आड़ी फिरी जाय।
नतरेली ख कोठड़ी म कोंडो रे इन्दर राजा
ब्याहता ख आगअ करी लाव।''

अर्थात् हे इन्दर राजा, तुम दूर ही गरजते हो और दूर ही बरसते हो। तुमने धरती से अबोला क्यों ले लिया है? कमजोर भूमि और पहाड़ी भूमि की ज्वार सूख रही है। गोया की गाय प्यासी मर रही है। इन्दर उत्तर देते हैं - हे निमाड़ी रानी हम कैसे आएँ? हमारा मार्ग नतरेली रोक रही है। गाँव की बहू-बेटी गुहार लगाती हैं- नतरेली को कमरे में बंद कर दो तथा ब्याहता पत्नी को आगे कर दो, हे इन्दर राजा चले आओ। निमाड़ के इस लोकगीत में जल के देवता इन्द्र, बादल और हवा से जुड़ी दाम्पत्य संबंधी अवधारणओं की मधुर परतें खुलती हैं। निमाड़ और मालवा में नतरैली उस स्त्री को कहा जाता है जिसका विधवा विवाह या पुनर्विवाह होता है। यहाँ हवा इन्द्र की नतरेली पत्नी है और बदली ब्याहता। जब तक तेज हवा चलती रहेगी, बादल टिक नहीं पाएगा। वर्षा थम नहीं सकेगी। इस लोकगीत में ग्राम्य बालाओं ने इन्द्र से जल वर्षा की मनुहार की है।''[७]

डॉ. परिहार मानते हैं कि ''माँ और नीम भारतीय जीवन की अवधारणाओं को अपने संस्कारों में अट्ट तरीके से आत्मसात किये हुए है। दुनिया की सारी कड़वाहट अपने में समेटकर एक नीरोग जीवन सृष्टि को दान कर देते हैं। सावन में पानी की बूँदें पके जामुन की तरह टपकती हैं। वर्षा में निथरता हुआ नीम अपनी सघनता में गमगमा उठता है।''[८] ऐसे समय में माँ और नीम की छत्र छाया को समान मानती हुई नव विवाहिता नायिका गाने लगती है - ''आखा नीमड़ी री छाया, जसी मात-पिता री माया, माया तोड़नू पड़से, सासरा जावणू पड़से।''[९]

डॉ. परिहार ने माँ और नीम के पेड़ को माँ के समकक्ष मानकर नीम के गुणों का गान किया है। वे लिखते है कि ''माँ हमेशा अपने माँ रूप से सही होती है। पेड़ त्रिकालावधि में भी सही होता है। वह सहन शक्ति का साकार रूप होता है। इसलिए लोक की चौपाल पेड़ से टिकती नहीं लिपटकर गाती हैं –

''बाबा निबिया के पेड़ जिनी कांटेड,
निबिया चिरैया बसरे बलैया लेऊ बीरन।
बाबा बिटियउ जिनि केउ दुःख देउ,
बिटिया चिरैया की नाई, बलैया लेउं बीरन।
सुबरै चिरैया उड़ि जइहै, रहि जइहै।
निबिया अकेली, बलैया लऊं बीरन।
तुमरै बिटियवा जइहैं सासुर, रहि जइहै।
माइ अकेली, बलैया लेऊं बीरन।''[१०]

अवधी के इस लोकगीत में नीम का वृक्ष माँ का प्रतीक बन गया है।

डॉ. श्रीराम परिहार को प्रकृति से असीम प्रेम है। प्रकृति में भी नदियों से और नदियों में खासकर नर्मदा से। शायद ही कोई ललित निबंध हो, जहाँ नदियों और नर्मदा का जिक्र न आया हो। नदी में स्नान करता हुआ कोई व्यक्ति लोकगीत गा रहा है –

''चलो रे भैया, चलिहै नरमदा के तीर परब को दिन आयो।
गंगा नहाये, जमुना नहाये, अब देखिहै।
मैया तेरो नीर, परब को दिन आयो।''[११]

हमारे यहाँ यह रीति-रिवाज है कि हर बेटी को बड़ी होकर पिता की देहरी छोड़कर प्रियतम के घर जाना पड़ता है। यदि यह न हो तो पूरी समाज व्यवस्था भंग हो जाए। विवाह संस्कार हमारी संस्कृति के सोलह संस्कारों में से एक है और इसमें बंधना ही पड़ता है। बेटी को अपने पिता का घर कितना ही प्यारा क्यों न लगता हो उसके परिजन भले ही अच्छे हों, किन्तु उसे तो जाना ही है।

वह पूरे परिवार को रोता-बिलखता छोड़कर खुद भी आँसुओं की बाड़ में बहकर चली जाती है और विवश होकर पिया के घर से प्रेम करना पड़ता है। परिहार जी ने निम्नलिखित गीत में एक बेटी की पीड़ा को व्यक्त किया है। जिसमें वह बाबुल को संबोधित करती है – **''बाबुल मोर ! मोहै काहै बियाहै विदेस। भैया को दिहले महल-दुमहले, हमको दिहे परदेश।''**[१२] कितना दर्द है इस लोकगीत में। इस दर्द की दुःखानुभूति को एक पिता ही समझ सकता है, जिसकी बेटी विदा होती है और पीहर छोड़कर ससुराल जाने वाली वह बधू जो पराये घर जाती है। लोक में इस तरह के गीत गाये जाते हैं। जिनको सुनकर एक कठोर हृदय व्यक्ति भी द्रवित हो जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्रीराम परिहार के ललित निबंधों में चित्रित लोकगीतों में पूरा लोक ही समाहित है। लोक का सुख-दुःख, उनके संस्कार, पर्व-त्योहार आदि से संबंधित गीतों का सुंदर समायोजन कर परिहार जी ने अपने निबंधों को जन-जन तक पहुँचाया है। उनके लोकगीत मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण हैं।

सन्दर्भ

१. डॉ. कमोद सिंघई, डॉ. श्याम सुन्दर दुबे : संवेदना एवं सृजन, विश्वभारती पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, २००४, पृ. ४१

२. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, आकाश प्रिया और मेघ काव्य, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. १६

३. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, पावस उत्सव और लोक धारणाएँ, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. २२

४. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, कहीं मर न जाए, सावन की आँख का पानी, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. २६

५. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, फागुनी रंग और प्रकृति पर्व, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. ५७

६. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, हमरी विपत गठरिया मोरे वीरना, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. ८२

७. डॉ. श्रीराम परिहार, आँच अलाव की, दिगंत-व्यापी शून्य और तपो वृद्ध पीपल, पंकज प्रकाशन, दिल्ली, १९८९, पृ. ८९

८. डॉ. श्रीराम परिहार, ठिठके पल पाँखुरी पर, आँचल माँ का छाँह नीम की, पड़ाव प्रकाशन, भोपाल, २०००, पृ. २८

९. वही, पृ. २८-२९

१०. डॉ. श्रीराम परिहार, ठिठके पल पाँखुरी पर, पेड़ एक उत्सव है, पड़ाव प्रकाशन, भोपाल, २०००, पृ. ६७

११. डॉ. श्रीराम परिहार, ठिठके पल पाँखुरी पर, नदी आस्था और कुंभ, पड़ाव प्रकाशन, भोपाल, २०००, पृ. ७६

१२. डॉ. श्रीराम परिहार, रसवंती बोलो तो, ससुर घर ऊँचे बसेरे, आस्था प्रकाशन, नई दिल्ली, २००२, पृ. ४१

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

आदिवासी जीवन में पर्यावरणीय चेतना : ग्लोबल गाँव के देवता

डॉ. राजेश कुमार गर्ग*, अभिषेक तिवारी**

सन् २००९ ई. में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास आदिवासी जीवन की बहुध्वन्यात्मकता के साथ उपस्थित होता है । यह 'रणेन्द्र' कृत एक ऐसा सशक्त उपन्यास है जो दिन-प्रतिदिन अपनी महत्ता में बड़ा और प्रासंगिक होता जा रहा है । वर्तमान समय में पूंजीवाद की आँधी में कई अस्मिताएँ संघर्षरत हैं । आदिवासी अस्मिता भी उनमें से एक है । आदिवासी जो कि इस देश के मूलवासी हैं आज अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए निरंतर संघर्षशील हैं । कारण है कि वे उन स्थानों पर बसे हुए हैं जो खनिज संसाधनों से परिपूर्ण हैं और जैसा कि हम सब जानते हैं कि ग्लोबल गाँव के देवताओं की नजर इन्हीं खनिज पदार्थों की खोज में लगी हुई है । जहाँ भी उन्हें खनिज पदार्थों का भान होता है वे वहीं पर कूच कर जाते हैं । तत्पश्चात् वहाँ के निवासियों को उजाड़ने का उपक्रम शुरु हो जाता है । इस उपक्रम को भलीभाँति प्रस्तुत उपन्यास में रेखांकित किया गया है। साथ ही आदिवासी जीवन की अन्य बहुविध समस्याओं और संवेदनाओं को भी गंभीरतापूर्वक स्पर्श किया गया है । जिन्हें हम क्रमबद्ध रुप से देखने की कोशिश करेंगे ।

उपन्यास का प्रारम्भ हमें आदिवासी जीवन के प्रति बहुसंख्यक लोगों की निकृष्ट मान्यता से रूबरू करवाता है । जिसमें लंबी बेरोजगारी के बाद कोयलबीघा अंचल के भौंरापाट में आदिम जनजाति परिवार की बच्चियों के लिए आवासीय विद्यालय में विज्ञान-शिक्षक की नियुक्ति प्राप्त कथावाचक पात्र अपनी पोस्टिंग रुकवाने की भरसक कोशिश करता है । इस कोशिश में विधायक-आवास तक का सफर तय किया जाता है। 'गाँव के ही चाचा के समधी थे विधायक रामाधार बाबू। दूसरे दिन सवेरे-सवेरे सवा सेर लड्डू के पैकेट के साथ हाजिर। आप ही के आशीर्वाद से नौकरी भेंटायी है, अब पोस्टिंग भी लड़का का ठीक-ठीक जगह हो । आप ही को तो कृपा करनी है । बाबूजी, विधायकजी के सामने घिघिया रहे थे ।[१] फलस्वरुप विधायकजी ने अपनी पहुँच दिखाते हुए कल्याण विभाग के निदेशक मिश्राजी से बात करके पोस्टिंग रुक जाने का आश्वासन देते हुए लोगों को विदा किया । किंतु पोस्टिंग न रुक सकी और अंततोगत्वा कथावाचक पात्र को ज्वाइनिंग उसी भौंरापाट स्कूल में लेनी ही पड़ी । पोस्टिंग को रुकवाने का कारण कथावाचक पात्र की बचपन में असुर आदिवासियों के संदर्भ में सुनी कहानियाँ और तत्पश्चात् निर्मित यह मान्यता थी कि - 'खूब लम्बे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक, दाँत-वाँत निकले हुए, माथे पर सींग-वींग लगे हुए लोग होंगे।[२]

किंतु जब कथावाचक पात्र भौंरापाट स्कूल पहुँचता है और वहाँ यह देखता है कि जैसा उसने सुना था वैसा कुछ भी प्रत्यक्ष रुप में नहीं है, तब उसे बड़ा आश्चर्य होता है । उपन्यास के पात्र 'लालचन असुर' से

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ.प्र.)
** शोधछात्र, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ.प्र.)

मिलने पर उसकी बचपन में असुरों के संदर्भ में सुनी गई कहानियाँ उल्टी घूमने लगती है । इसी क्रम में वह यह जानकर और भी चकित रह जाता है कि 'यह छरहरी-सलोनी एतवारी भी असुर ही है,.. । हफ्ता भर से इसे देख रहा हूँ , न सूप जैसे नाखून दिखे, न खून पीने वाले दाँत । कैसी-कैसी गलत धारणाएँ ! खुद पर ही अजब-सी शर्म आ रही थी।[३] इस प्रकार उपन्यासकार इस मिथक को तोड़ता है कि आदिवासी 'असुर' समुदाय इंसानों से भिन्न कोई प्रजाति है। वे भी हमारी आपकी तरह संवेदनाओं से युक्त हाँड़-मांस के जीव हैं। उनके प्रति किसी भी प्रकार का पूर्वग्रह उन्हें मुख्यधारा में सहभागिता से उपेक्षित करेगा। अपने विकास-क्रम में उपन्यास 'असुर' समाज में व्याप्त 'मुड़ीकटवा' रुपी अंधविश्वास से भी पाठकों को रुबरु करवाता है। इस अंधविश्वास के संदर्भ में व्यवस्थित रूप से कथावाचक पात्र को समझाते हुए 'डॉ. रामकुमार' कहते हैं कि - 'अब भी कुछ लोगों के मन में यह बात बैठी हुई है कि धान को आदमी के खून में सानकर बिचड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है। इसलिए इस सीजन में मुड़ीकटवा लोग घूमते रहते हैं।[४] हालाँकि शिक्षा के प्रसार के फलस्वरुप इस अंधविश्वास में कमी आई है और लोग जागरुक हुए हैं। फलस्वरुप - 'अब तो केवल उसकी कानी उँगली थोड़ा चीरकर ख़ून की कुछ बूँद ही देवी-थान चढ़ाते हैं हम लोग। इतने पर ही देवी ख़ुश हो जाती है।[५] इस प्रकार उपन्यासकार ने असुर समुदाय की रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर भी अपनी सशक्त लेखनी चलाई है। साथ ही इस बात पर भी समुचित प्रकाश डाला है कि आदिवासी अंधविश्वासों पर शिक्षा के प्रसार के फलस्वरुप क्या परिवर्तन आया है।

इसके साथ-साथ उपन्यास अपने विकास-क्रम में आदिवासी समस्याओं से भी हमें रूबरू करवाता है। पहली समस्या है-बेरोजगारी की। जैसा कि सर्वविदित है कि आदिवासी बहुधा उन स्थानों पर निवास करते हैं जो दुर्गम होते हैं। वहाँ पर न तो खेती के लिए ही उपयुक्त परिस्थितियाँ होती हैं और न ही व्यवसाय हेतु ही। फलतः आजीविका हेतु आदिवासियों को दूसरे राज्यों में पलायन करना पड़ता है। इसी संदर्भ से कथावाचक पात्र को रूबरू करवाते हुए 'डॉ. रामकुमार' कहते हैं कि - 'अभी तो आप आये ही हैं । देखिएगा कि मक्का की एक बरसाती फ़सल के भरोसे ज़िंदगी कितनी कठिन हो जाती है। मजूरी और जंगल का सहारा जो नहीं हो तो लोग फिर आसाम-भूटान निकल जाएँ ।[६] दूसरी प्रमुख समस्या है-औद्योगीकरण जनित नारकीय परिस्थितियाँ। आदिवासी क्षेत्रों में ही खनिजों का बाहुल्य होने के कारण बड़ी-बड़ी खनन कंपनियाँ वहीं स्थापित होती हैं। इन खनन कंपनियों द्वारा खनिजों का अंधाधुंध दोहन तो किया जाता है किंतु दोहन के फलस्वरूप उत्पन्न कचड़े का उचित निस्तारण नहीं किया जाता । फलतः क्षेत्र में तरह-तरह की बीमारियों का बोलबाला हो जाता है। जिससे वहाँ निवास करने वाले लोग अकाल ही काल के गाल में समा जाते हैं। भौंरापाट अंचल के आदिवासी भी इसी समस्या से ग्रसित हैं। उपन्यास के पात्र 'डॉ. रामकुमार' के शब्दों में 'पिछले पच्चीस-तीस सालों में खान-मालिकों ने जो बड़े-बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी। मुड़ीकटवा से साल-दो साल पर भेंट होती है किन्तु इस जानमारू से तो हर रोज़ भेंट होगी।[७] इस प्रकार औद्योगीकरण ने आदिवासियों की जिंदगी को बद-से-बदतर बना दिया है। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक 'डॉ. रामदयाल मुंडा' का कथन अवलोकनीय है कि-'औद्योगिक कचरों से यहाँ की सभी नदियों का पानी इतना प्रदूषित हो गया है कि इनका पानी पीने लायक नहीं रह गया है। चन्द्रपुरा जैसे कोयला क्षेत्रों में हवा का प्रदूषण इस हद तक बढ़ा हुआ है कि उन क्षेत्रों में काम करनेवाले ५० प्रतिशत से अधिक लोग श्वास रोगों से पीड़ित हैं।[८]

असुर आदिवासियों की तीसरी प्रमुख समस्या है-विस्थापन। 'विस्थापन यानी उस गाँव-घर का एकबारगी उजड़ जाना जिसे पीढ़ियों की मेहनत से बनाया जाता है। उस गाँव-घर से बेघर हो जाना जिससे

न जाने कितनी स्मृतियाँ जुड़ी रहती हैं, जो हमें जमीन से जुड़े होने का, अपने अस्तित्व का एहसास कराता है।[९] किंतु सिर्फ चंद लोगों के व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए इस एहसास को मार दिया जाता है। उपन्यास इस संवेदना का समुचित ढंग से प्रतिपादन करता है और यह स्पष्ट करता है कि कैसे पूंजी और सत्ता के गठजोड़ ने लुप्तप्राय 'असुर' समुदाय को लुप्त होने की दिशा में एक और धक्का 'भेड़िया अभयारण्य' के नाम पर देकर अपने व्यक्तिगत हितों को साधा है । उपन्यास के अंतर्गत ग्लोबल गाँव का एक बड़ा देवता है – वेदांग। इस देवता की यह मंशा है कि कोयलबीघा अंचल के बॉक्साइट को निकालकर यही रिफाइन किया जाए। इसके लिए उसे कोयलबीघा अंचल के कई सौ एकड़ की जमीन चाहिए थी। फलस्वरुप कंपनी में शेयर निर्धारित होने के पश्चात 'भेड़िया अभयारण्य' की योजना अंचल में उतर आई। इस योजना से २२ असुर ग्रामों सहित कुल ३७ वन–ग्रामों को उजड़ना पड़ता है। इस उजड़ने के दर्द को रूपायित करता हुआ उपन्यास का पात्र 'रुमझुम असुर' देश के प्रधानमंत्री को चिट्ठी लिखता है कि – 'महोदय, शायद आपको पता हो कि हम असुर अब सिर्फ़ आठ–नौ हज़ार ही बचे हैं। हम बहुत डरे हुए हैं। हम ख़त्म नहीं होना चाहते। भेड़िया अभयारण्य से कीमती भेड़िये ज़रुर बच जाएँगे श्रीमान्। किन्तु हमारी जाति नष्ट हो जाएगी। सच कहें तो हम बिना चेहरे वाले इनसान होकर जीना नहीं चाहते श्रीमान्। हमें बचा लीजिये श्रीमान्। हमारी आख़िरी आस आप ही हैं।[१०]

किंतु ये आख़िरी आस भी असुरों का साथ नहीं देती और उन्हें 'संघर्ष समिति' की अगुवाई में अपनी बात रखनी पड़ती है। जिसकी परिणति 'बालचन असुर' सहित छः असुर आदिवासियों की मौत, नक्सली होने के टैग के साथ होती है। अर्थात् उनकी जायज एवं लोकतांत्रिक आवाज को नक्सलवाद के नाम पर दबा दिया जाता है। पहले तो शांतिपूर्ण धरने को विभिन्न तरीकों से उकसाने की कोशिश प्रशासन द्वारा की जाती है। किंतु जब इसमें वे सफल नहीं होते तो बहन–बेटियों को लेकर अभद्र टिप्पणी करने लगते हैं। सिपाही लगातार अपनी बकवास जारी रखता है कि – 'ई जवान–जवान छौंड़िन सबको तो गरमी चढ़ा है। धरना देने आयी है कि जवानी दिखाने आयी हैं । ई छौंड़िन सबको जानते नहीं हैं हम? इनमें से कौनो ऐसन नही है जो हमरी जाँघ के नीचे से नहीं निकली हो ।[११] इस तरह की अशोभनीय एवं असहनीय टिप्पणियों से समिति के युवकों का धैर्य जवाब दे जाता है और वे उस पुलिस की जमकर पिटाई करने लगते हैं। युवकों की चंगुल से छूटते ही वह पुलिस वाला चौकी में से रायफल निकालकर फायरिंग शुरू कर देता है । फलस्वरूप बालचन असुर, रुमझुम और भीखा समेत छः आदिवासियों की मौत हो जाती है। जिनके नक्सली होने की पुष्टि अगले दिन मीडिया कुछ इस रूप में कर देती है कि – 'पाथरपाट में हुए पुलिस मुठभेड़ में छह नक्सली मारे गये। मारे गये नक्सलियों में कुख्यात एरिया कमांडर बालचन भी शामिल।'[१२]

इस प्रकार एक शांतिपूर्ण और अहिंसक आंदोलन पुलिस–प्रशासन के असंवेदनशील व्यवहार से हिंसक और उग्र आंदोलन में परिणत हो जाता है। जिसकी कीमत उन्हें अपने सदस्यों की मौत से चुकानी पड़ती है और इससे भी बड़ी अपूर्णनीय क्षति यह होती है कि उनका आंदोलन बिखर जाता है। इससे 'ग्लोबल गाँव के देवता खुश थे। जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हज़ार–हज़ार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुक़ाम पा लिया था।[१३]

इस प्रकार 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास के अध्ययन से न सिर्फ आदिवासी जीवन–संघर्ष से रूबरू हुआ जा सकता है अपितु उनके जीवन के स्पंदनों से भी बखूबी परिचित हुआ जा सकता है। उनके जीवन की विसंगतियों और कारणों की पहचान स्पष्ट रुप से उपन्यास के माध्यम से की जा सकती है। 'प्रो. वीरभारत तलवार' के अग्रकथन की ध्वन्यात्मकता को उपन्यास में भलीभाँति रेखांकित किया जा सकता है

कि 'दुनिया के बड़े महत्त्वपूर्ण खनिज, बड़ी बेशकीमती खदानें उस जमीन के नीचे हैं, जहाँ आदिवासी अपनी छोटी-मोटी झोपड़ियाँ बनाकर रहते हैं। ये बेशकीमती सम्पदा उनके दुर्भाग्य का सबसे बड़ा कारण बन गई है। उस सम्पदा पर दुनियाँ भर की बहुराष्ट्रीय कंपनियों और सरकारों की नजर लगी हुई है। उस सम्पदा को निकालना है और उससे करोड़ों का मुनाफा कमाना है, करोड़ों के मुनाफे के लिए, आदिवासियों को उस जमीन से हटाने के लिए, भगाने के लिए दशकों से एक युद्ध चल रहा है। आप खुली आँखों से देख सकते हैं कि उस युद्ध में अकेले हैं आदिवासी, कोई उनके साथ नहीं खड़ा है।[१४] ऐसे में आवश्यकता उनके साथ खड़े होने की भी है और सबका साथ सबका विकास की विश्वसनीयता को प्रमाणित करने की भी है। नहीं तो परिस्थितियाँ बद-से-बदतर होती जाएंगी और देश का मूलवासी बेनाम चेहरों में परिणत होता जाएगा।

संदर्भ सूची

१. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. ७
२. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. ११
३. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. १२
४. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. १२
५. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. १४
६. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. १३
७. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. १३
८. डॉ. रामदयाल मुंडा, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : २००२, पृ. सं. ३०
९. विनोद कुमार, आदिवासी संघर्षगाथा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : २००२, पृ. सं. ७४
१०. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. ८४
११. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. ८७
१२. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. ८८
१३. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण : २०१३, पृ. सं. १००
१४. डॉ. रमेश चन्द्र मीणा, आदिवासी विमर्श, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण : २०१३, पृ. सं. १

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

सिद्धार्थनगर जनपद में ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का मूल्यांकन

डॉ. विकास कुमार*

प्रस्तावना

भारत में देश की स्वतंत्रता के बाद अप्रैल 1951 में पहली पंचवर्षीय योजना की शुरुआत हुई। योजना आयोग द्वारा द्वारा 1951-52 में प्रथम पंचवर्षीय योजना को कार्यरूप दिया गया, जिसके पीछे मंशा यह थी कि आम नागरिक विकास के सिद्धान्त से अवगत हो सके और राष्ट्र में प्रशासनिक संरचना को सुदृढ़ करते हुए विकास कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किया जा सके। इस योजना काल में ग्रामीण क्षेत्र में सर्वांगीण विकास की मंशा से सामुदायिक विकास प्रखण्डों की स्थापना की गई और सभी विकास कार्यक्रमों को एक विशेष प्रशासनिक तन्त्र द्वारा कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) काल में सामुदायिक विकास प्रखण्डों द्वारा विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के अनुभव के आधार पर विकास कार्यक्रमों के प्रभावकारी क्रियान्वयन में जनप्रतिनिधि एवं ग्रामीण संस्थाओं की प्रत्यक्ष भागीदारी की आवश्यकता महसूस करते हुए पंचायतीराज प्रणाली लागू की गयी। तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66) के अन्तर्गत अनेक ऐसे भी विकास कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार की गयी जो क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं एवं उपलब्ध साधन स्रोतों पर आधारित थे जैसे– कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम, जनजाति क्षेत्र विकास कार्यक्रम, पर्वतीय, सूखा तथा मरुक्षेत्र विकास कार्यक्रम आदि। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) में लघु कृषक विकास एवं सीमान्त कृषक विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित कर एक खास समूह को लाभ पहुँचाने का प्रयास किया गया। पांचवीं पंचवर्षीय योजना अवधि में कोई दूरगामी प्रभाव वाली योजना नहीं बन सकी लेकिन अल्प अवधि के लिए 'अन्त्योदय कार्यक्रम' एवं 'काम के बदले अनाज' कार्यक्रम जैसी योजनाओं को लागू किया गया। छठी पंचवर्षीय योजना में गरीबी और बेरोजगारी उन्मूलन को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए सभी विकास कार्यक्रमों को एकीकृत कर समाकलित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के रूप में कार्यान्वित करने का संगठित प्रयास किया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में खाद्यान्न, रोजगार एवं उत्पादकता पर विशेष बल दिया गया। आठवीं पंचवर्षीय योजना अवधि में ग्रामीणों की भागीदारी को प्रभावशाली बनाने के विचार से 'जवाहर रोजगार योजना' लागू की गयी और पंचायतों एवं आम नागरिकों को योजनाएँ नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) के अन्तर्गत अनेक ग्रामीण विकास कार्यक्रम लागू किये गये जिसमें 'जवाहर ग्राम समृद्धि योजना', 'स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना' आदि प्रमुख है। दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) के अन्तर्गत ग्रामीण भारत में मूलभूत ढांचागत सुविधाओं के लिए 'भारत निर्माण कार्यक्रम (2005) संचालित किया गया जिसके अन्तर्गत सिंचाई, सड़क, आवास, जलापूर्ति,

* शोधार्थी, भूगोल विभाग, पी.जी. कालेज, गाजीपुर (उ.प्र.)

विद्युतीकरण एवं दूर संचार को सम्मिलित किया गया था। ग्यारहवीं (2007-2012) तथा बारहवीं (2012-2017) पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत ग्रामीण विकास के लिए अनेक योजनाओं एवं कार्यक्रमों को संचालित किया गया। योजनाओं की अन्तिम शृंखला के रूप में बारहवीं पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल 31मार्च 2017 को समाप्त होने के बाद योजना आयोग को नीति आयोग द्वारा प्रतिस्थापित करके नीति आयोग द्वारा तीन वर्णों का एक्शन एजेण्डा (2017-18 से 2019-20) पेश किया गया, जो भविष्य में प्रस्तुत सात वर्षीय स्ट्रेटजिक प्लान तथा 15 वर्षीय विजन प्लान (सन् 2031-32 तक के लिए) का भाग होगा (लाल एवं लाल, 2019, पृष्ठ 2 : 20)।

ग्यारहवीं एवं बारहवीं पंचवर्षीय योजनाओं में तथा उसके बाद ग्रामीण विकास हेतु संचालित महत्त्वपूर्ण योजनाओं एवं कार्यक्रमों में ग्रामीण सड़क विकास योजना, इन्दिरा गाँधी पेंशन योजना, सांसद आदर्श ग्राम योजना, प्रधानमंत्री जनधन योजना, पं. दीन दयाल श्रमेव जयते कार्यक्रम, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना, स्वच्छ भारत मिशन (ग्रामीण), आयुष्मान भारत योजना, बेटी पढ़ाओ, बेटी बचाओ योजना, प्रधानमंत्री आवास योजना (ग्रामीण), दीन दयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल योजना, दीन दयाल अन्त्योदय योजना, सौभाग्य योजना, प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना, प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना, अटल पेंशन योजना, प्रधानमंत्री जन औषधि योजना, प्रधानमंत्री रोजगार प्रोत्साहन योजना, प्रधानमंत्री मत्स्य संपदा योजना, प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना आदि प्रमुख है।

अध्ययन क्षेत्र

सिद्धार्थनगर जनपद मध्य गंगा मैदान के उत्तरी-पूर्वी भाग में स्थित एक भू-भाग है। यह उत्तर प्रदेश राज्य के बस्ती मंडल का एक जिला है। यह 27º' उत्तरी से 27 28' उत्तरी अक्षांश तथा 82 45' पूर्वी से 93 10' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। इस जनपद का कुल क्षेत्रफल 2895 वर्ग किमी है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 2559297 है। यहाँ जनसंख्या का घनत्व 884 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी. है। यहाँ प्रति हजार पुरुषों पर महिलाओं की औसत संख्या 976 है। इस जनपद में औसत साक्षरता 47.99 प्रतिशत है। यहाँ पुरुषों की साक्षरता 57.77 प्रतिशत एवं महिलाओं की साक्षरता 38.58 प्रतिशत है। इस जनपद में ग्रामीण जनसंख्या की बहुलता है। यहाँ की 93.72 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण है मात्र 6.28 प्रतिशत जनसंख्या ही नगरीय क्षेत्र में निवास करती है।

प्रशासनिक दृष्टि से सिद्धार्थनगर जनपद में कुल 5 तहसीलें– नौगढ़, बाँसी, डुमरियागंज, इटवा, शोहरतगढ़ और 14 विकासखंड– बढ़नी, शोहरतगढ़, नौगढ़, इटवा, भनवापुर, खुनियाँव, डुमरियागंज, मिठवल, खेसरहा, उस्का बाजार, बर्डपुर, बाँसी, जोगिया तथा लोटन है। भौगोलिक दृष्टिकोण से यह जनपद उ.प्र. के तराई क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। प्रतीयमानतः यह एक सपाट मैदानी भू-भाग है जिसमें उच्चावचीय विभिन्नतायें अति न्यून है। यहाँ की जलवायु उपोष्ण कटिबंधीय मानसूनी जलवायु है। यहाँ ग्रीष्म ऋतु का औसत तापमान लगभग 35ºC एवं शीत ऋतु का औसत तापमान 20ºC रहता है। यहाँ वर्षा की औसत मात्रा 140 से.मी. वार्षिक रहती है। उत्तर से दक्षिण की ओर जाने पर वर्षा प्रायः कम होती जाती है। इस जनपद में राप्ती नदी सर्वप्रमुख जलधारा है। जिसमें प्रायः जनपद की अन्य सभी अपवाह शाखाऐं जाकर मिलती है। यह भू-भाग नदियों द्वारा बिछायी गई जलोढ़ मिट्टी से निर्मित है। यह क्षेत्र मुख्य रूप से महीन कणों के निक्षेप से निर्मित मिट्टी वाला समतल, दलदली, नम उपजाऊ भू-भाग है। यह जनपद प्रायः बाढ़ की आपदा से प्रभावित रहता है। यहाँ खनिज एवं शक्ति का अभाव है, जिसके कारण औद्योगिक विकास

नहीं हो पाया है। यहाँ कुछ छोटे-छोटे उद्योग ही विकसित हो पाये हैं। इस जनपद में आजीविका का मुख्य साधन कृषि है है। इस जनपद की अर्थव्यवस्था कृषि द्वारा ही पूर्णतया प्रभावी है जो सम्बद्ध क्रिया-कलापों के साथ रोजगार एवं राजस्व हेतु महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान करती है।

सिद्धार्थनगर जनपद में ग्रामीण विकास की योजनाएँ एवं कार्यक्रम

वर्तमान समय में ग्रामीण विकास से सम्बन्धित केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार की विविध योजनाएँ एवं कार्यक्रम संचालित हो रहे हैं। उन सभी योजनाओं एवं कार्यक्रमों का एक सीमित समय एवं सीमा में गहन अध्ययन करना संभव नहीं है। अतः अध्ययन की सीमा को ध्यान में रखते हुए ग्रामीण विकास के विविध पक्षों– अवस्थापनात्मक सुविधाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, पेयजल एवं स्वच्छता से सम्बन्धित विविध समयों पर संचालित की गयी योजनाओं एवं कार्यक्रमों में से कुछ का जैसे–महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना (मनरेगा), लोहिया ग्रामीण आवास योजना, राजीव गाँधी ग्रामीण विद्युतीकरण योजना, सर्वशिक्षा अभियान, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, स्वच्छ भारत मिशन (ग्रामीण), आयुष्मान भारत योजना, सौभाग्य योजना, प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना, प्रधानमंत्री आवास योजना, प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना का चयन करके अध्ययन क्षेत्र में इनके क्रियान्वयन, इनके क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप क्षेत्र के ग्रामीण विकास पर इनका प्रभाव तथा इनके क्रियान्वयन से सम्बन्धित विविध समस्याओं का अध्ययन, मुख्य रूप से आलोच्य जनपद के 14 विकासखण्डों में से प्रत्येक से विविध भौतिक, सामाजिक-आर्थिक सुविधाओं एवं पर्यावरणीय विशेषताओं वाले इन ग्रामों से विविध सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिवेश वाले परिवारों का व्यक्तिगत रूप से ग्रामों में जाकर तथा उनका गहन सर्वेक्षण कर और ग्रामों में परिवारों से मिलकर इनसे सम्बन्धित विविध जानकारियों को प्राप्त कर किया गया है।

अध्ययन क्षेत्र के विभिन्न भागों से खादर क्षेत्र में का चयन किया गया है। इनमें एक ग्राम अकरहा अध्ययन क्षेत्र के उत्तरी भाग में बढ़नी विकासखण्ड में स्थित है। दूसरा ग्राम महथा अध्ययन क्षेत्र के उत्तरी भाग में ही शोहरतगढ़ विकासखण्ड में है। अध्ययन क्षेत्र के मध्य भाग में नौगढ़ विकासखण्ड में स्थित ग्राम बभनी भी खादर क्षेत्र में ही है। अध्ययन क्षेत्र के पूर्वी भाग में लोटन विकासखण्ड में गढ़मौर एवं बस्तिया ग्राम खादर क्षेत्र के ग्राम है। अध्ययन क्षेत्र के दक्षिणी पूर्वी भाग में खेसरहा विकासखण्ड के ग्राम छितौनी, लमुहीताल एवं पिपरा भी खादर क्षेत्र के ग्राम हैं। शेष ग्राम बांगर क्षेत्र से हैं। ये सभी ग्राम विविध भौतिक, सामाजिक-आर्थिक एवं अवस्थितिगत दशाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। प्रतिचयनित ग्रामों में बर्डपुर विकासखण्ड का निपनिया ग्राम सबसे बड़ा क्षेत्रफल (906.95 हेक्टेयर) वाला ग्राम है। भनवापुर विकासखण्ड का बेलवा ग्राम क्षेत्रफल की दृष्टि से दूसरा सबसे बड़ा ग्राम है, जिसका क्षेत्रफल 553.08 हेक्टेयर है, क्षेत्रफल की दृष्टि से मिठवल विकासखण्ड का ग्राम अस्नार खास, खेसरहा विकासखण्ड का ग्राम लमुहीताल एवं बाँसी विकासखण्ड का ग्राम सोनखर बड़े ग्राम है, इन ग्रामों का क्षेत्रफल 380 हेक्टेयर से अधिक है। हसुड़ी औसानपुर (भनवापुर विकासखण्ड), अकरहा (बढ़नी विकास खण्ड), बभनी (बाँसी विकासखण्ड) तथा गढ़मौर (खेसरहा विकासखण्ड) ग्रामों का क्षेत्रफल 200 से 300 हेक्टेयर के मध्य है। 100 से 200 हेक्टेयर क्षेत्रफल वाले ग्राम रानीजोत (इटवा विकासखण्ड), कारैली खरैला (भनवापुर विकासखण्ड), परसा (बढ़नी विकासखण्ड), बगहा (शोहरतगढ़ विकासखण्ड), कटेहना (जोगिया विकासखण्ड), कुसमी (डुमरियागंज विकासखण्ड), पारसपुर (बाँसी विकासखण्ड), छितौनी (खेसरहा विकासखण्ड), एवं बस्तिया (लोटन विकासखण्ड) हैं। अन्य ग्रामों का क्षेत्रफल 100 हेक्टेयर से कम है।

सबसे कम क्षेत्रफल वाला ग्राम मिठवल विकासखण्ड का परसातौफीर है, जिसका क्षेत्रफल मात्र 8.77 हेक्टेयर है।

जनसंख्या की दृष्टि से निपनिया ग्राम सबसे बड़ा ग्राम है। यहाँ की जनसंख्या 11615 है। जनसंख्या में जगदीशपुर खुर्द, पोखर भिटवा, सोनखर, अस्नार खास तथा गढ़मौर बड़े ग्राम हैं। इन ग्रामों की जनसंख्या 2000 से अधिक है। अकरहा, परसा, महथा, पारसपुर तथा बस्तिया ग्रामों की जनसंख्या 1500 से 2000 तक है। रानीजोत, केसार, हसुड़ी औसानपुर, बगहवा, कटेहना, फुलवरिया, कुसमी, मडहली, बभनीताल, लमुहीताल एवं पिपरा ग्रामों की जनसंख्या 1000 से कम है। सबसे कम जनसंख्या वाला ग्राम परसातौफीर है, जिसकी कुल जनसंख्या मात्र 192 है।

ग्राम फुलवरिया अनुसूचित जाति प्रधान ग्राम है। इस ग्राम की 72.07 प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जाति की है। ग्राम अगया, महथा, कटेहना, जैतपुर, कपिया खुर्द तथा लमुहीताल में अनुसूचित जाति की जनसंख्या का प्रतिशत 25 से अधिक है। हंसुड़ी औसानपुर, बगहवा, कारैली खरैला, अकरहा, परसा, श्री बेलवा, कुसमी, मडहली एवं गढ़मौर ग्रामों में अनुसूचित जाति की जनसंख्या 15 प्रतिशत से कम है। अनुसूचित जाति की जनसंख्या का सबसे कम प्रतिशत 0.64 परसातौफीर ग्राम में है। बभनी ग्राम में अनुसूचित जाति के लोग नहीं हैं।

ग्रामों में अस्नार खास, गढ़मौर, अकरहा, परसा, बगहवा, निपनिया, जगदीशपुर खुर्द, केटहना में अनुसूचित जनजाति के लोग भी रहते हैं। इन ग्रामों में अनुसूचित जनजाति के लोगों का प्रतिशत 2 से कम है। मात्र एक ग्राम कटेहना में अनुसूचित जनजाति के व्यक्तियों का प्रतिशत 2 से अधिक 2.01 है।

अध्ययनित जनपद एक कृषि प्रधान जनपद है। यहाँ परिवारों के 72.28 प्रतिशत मुखिया कृषक, 14.56 प्रतिशत मुखिया श्रमिक, 7.12 प्रतिशत मुखिया सेवारत तथा 6.04 प्रतिशत मुखिया व्यापार में लगे हुए लोग है। परिवारों में 83.45 प्रतिशत परिवारों के पास कृषि भूमि है, 5.18 प्रतिशत परिवारों के पास कृषि जोत 10 एकड़ से अधिक है। 8.24 प्रतिशत परिवार 5 से 10 एकड़ कृषि जोत वाले हैं। 11.64 प्रतिशत परिवारों के पास कृषि जोत 2 से 5 एकड़ तथा 58.39 प्रतिशत परिवारों के पास कृषि जोत 2 से 5 एकड़ तथा 58.39 प्रतिशत परिवारों के पास कृषि जोत 2 एकड़ से कम है। 16.55 प्रतिशत परिवार भूमिहीन है।

परिवारों के 37.29 प्रतिशत मुखिया अशिक्षित, 21.26 प्रतिशत प्राइमरी तक, 15.23 प्रतिशत जूनियर हाईस्कूल तक 12.77 प्रतिशत हाईस्कूल एवं 8.15 प्रतिशत इण्टरमीडिएट तक शिक्षा प्राप्त है। मात्र 5.3 प्रतिशत मुखिया उच्च शिक्षा प्राप्त है।

प्रतिचयनित परिवारों में 78.38 प्रतिशत हिन्दू, 19.62 प्रतिशत मुसलमान, 1.8 प्रतिशत ईसाई तथा 0.2 प्रतिशत सिक्ख है। हिन्दू परिवारों में 46.18 प्रतिशत उच्च जाति के 28.54 प्रतिशत पिछड़ी जाति के 23.89 प्रतिशत अनुसूजित जाति एवं 1.39 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति के है।

निष्कर्ष

अध्ययन क्षेत्र सिद्धार्थनगर जनपद में चयनित ग्रामों में जाकर स्वयं ग्रामों का सर्वेक्षण करके तथा इन ग्रामों में चयनित परिवारों से मिलकर प्रश्नवालियों को पूरा कराकर किये गये अध्ययनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं–

(1) ऐसे ग्राम जो जिला मुख्यालय, तहसील मुख्यालय, विकासखंड मुख्यालय, बड़े नगरों, कस्बों

के अत्यन्त निकट है, सड़कों के किनारे हैं या जिन ग्रामों में शिक्षा का स्तर उच्च हैं, उन ग्रामों में सरकारी ग्रामीण विकास की योजनाओं के क्रियान्वयन का स्तर अन्य ग्रामों की अपेक्षा उच्च हैं।

(2) बाँगर क्षेत्र के ग्रामों की अपेक्षा खादर क्षेत्र के ग्रामों में इन योजनाओं के क्रियान्वयन का स्तर अपेक्षाकृत निम्न है।

(3) जिन ग्रामों में ग्रामीण विकास की योजनाओं के क्रियान्वयन का स्तर उच्च है, उन ग्रामों में विकास के लिए आवश्यक सुविधायें एवं सेवायें उच्च स्तर की हैं तथा उन ग्रामों के सामाजिक-आर्थिक विकास का स्तर ऊँचा है। इन ग्रामों में पर्यावरणीय संरक्षण एवं स्वच्छता के प्रति भी जागृत चेतना एवं सजगता देखने को मिली है।

(4) ग्रामीण विकास की योजनाओं के क्रियान्वयन के ग्राम में रहने वाले सभी ग्रामीणों के जीवन-स्तर में बदलाव आया है। परन्तु इन योजनाओं के क्रियान्वयन का ग्राम में रहने वाले गरीब किसान, मजदूर, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों के जीवन स्तर पर अपेक्षाकृत अधिक सार्थक प्रभाव पड़ा हैं। इनके जीवन स्तर में अन्यों की तुलना में अधिक बदलाव आया है।

(5) ग्रामीण के साथ विचार-विमर्श से यह ज्ञात हुआ है कि ग्रामीण विकास की योजनाओं को अभी और अधिक प्रभावकारी ढंग से लागू किया जा सकता है तथा इनके और अधिक सार्थक परिणाम देखने को मिल सकते हैं। यदि इन योजनाओं के क्रियान्वयन में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त कर दिया जाय तो इनके बेहतर परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। ग्रामीणों का मत है कि कोई भी ग्रामीण विकास की सरकारी योजना भ्रष्टाचार से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं।

(6) ग्रामीणों में जनचेतना का अभाव है जो सरकारी व गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा विभिन्न माध्यम द्वारा प्रसार किया जाना चाहिए जिससे ग्रामीणों के जीवन-स्तर को बेहतर बनाया जाय।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कुशवाहा, लाल जी एवं यादव, शिव प्रताप (2013) : ''संघृत ग्रामीण विकास में मनरेगा : देवरिया जनपद का एक अध्ययन'', उत्तर भारत भूगोल पत्रिका, अंक 43, सं. 3, सितम्बर, पृ. 37-44।
2. यादव, प्रियंकेश एवं सिंह, बी.एन. (2016) : ''ग्रामीण विकास में महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना की भूमिका : जनपद चन्दौली का प्रतीक अध्ययन'', राष्ट्रीय भौगोलिक पत्रिका, वर्ष 7, अंक 1, जून, पृ. 19-32।
3. लाल, एस.एन. एवं लाल, एस.के. (2019) : भारतीय अर्थव्यवस्था, शिवम् पब्लिशर्स, इलाहाबाद, पृ. 2 : 20।

Shodh Navneet (International Peer-Reviewed Research Journal)
ISSN : 2321-6581, IIJ Impact Factor : 5.037, Vol. XXI, July - Dec. 2023

शस्य गहनता एवं भूमि उपयोग क्षमता : सिद्धार्थनगर जनपद का एक भौगोलिक अध्ययन

अनिकेत कुमार*

शोध सारांश : प्राकृतिक संसाधनों में भूमि एक प्रमुख संसाधन है जिस पर भारतवर्ष ही नहीं वरन् विश्व के बहुसंख्यक लोगों की जीविका निर्भर है। वर्तमान में भारतवर्ष की कुल जनसंख्या का लगभग ५० प्रतिशत भाग कुल क्षेत्रफल के ४३.२४ प्रतिशत भाग पर कृषि कार्य में संलग्न है। यहाँ उत्पादित कृषि पदार्थों से लोगों को भोजन तथा उद्योगों को कच्चा माल प्राप्त होता है। कृषि गहनता किसी कृषि क्षेत्र में एक वर्ष के भीतर एक से अधिक कितनी शस्यों का उत्पादन किया जाता है को कहा जाता है। कृषि गहनता हमेशा १०० प्रतिशत से अधिक होता है। अध्ययन क्षेत्र की कृषि गहनता १६७.७४ प्रतिशत है जिनमें ग्रामीण कृषि गहनता १६४.८७ प्रतिशत व नगरीय कृषि गहनता ४४८.०७ प्रतिशत पाया जाता है। भूमि उपयोग क्षमता विशेष में भूमि उपयोग के विभिन्न पहलुओं के संयुक्त प्रमाण का परिणाम होती है। भूमि उपयोग क्षमता परिवर्तनशील होती है। अध्ययन क्षेत्र में सबसे अधिक भूमि उपयोग क्षमता शोहरतगढ़ विकासखण्ड में व सबसे कम भूमि उपयोग क्षमता खेसरहा विकासखण्ड में पायी जाती है।

मुख्य शब्द : कृषि गहनता, विकासखण्ड सकल बोया गया क्षेत्र, शुद्ध बोया गया क्षेत्र, सूचकांक, भूमि उपयोग क्षमता।

प्रस्तावना : भूमि उपयोग भौगोलिक अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपादान है जिसका सर्वप्रमुख व्यवहारिक लक्ष्य भूमि के न्यूनतम उपयोग द्वारा अधिकतम दीर्घकालिक लाभ की प्राप्ति है। भूमि उपयोग का अधिकतम लाभकारी अध्ययन निरन्तर जनवृद्धि का प्रतिफल है निरन्तर तीव्रतर जनवृद्धि के भरण पोषण हेतु भूमि संसाधनों की अत्यल्प एवं सीमितता के कारण सर्वोत्तम भूमि उपयोग की संकल्पना का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः जनसंख्या एवं भूमि के मध्य बढ़ते असंतुलन को देखते हुए सम्पूर्ण क्षेत्र के भूमि उपयोग का गहन सर्वेक्षण एवं कुल भूमि की क्षमतानुसार उसके अधिकतम उपयोग के लिए नियोजन की महती आवश्यकता है जिससे कृषि भूमि का अधिकाधिक प्रयोग करते हुए अधिकतम उत्पादन लिया जा सके ताकि तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की माँग एवं आपूर्ति में संतुलन स्थापित किया जा सके। वस्तुतः इसी उद्देश्य की आपूर्ति हेतु प्रस्तुत अध्ययन कृषि गहनता एवं भूमि उपयोग क्षमता सिद्धार्थनगर जनपद का एक भौगोलिक अध्ययन का प्रयास किया गया है।[१]

अध्ययन का उद्देश्य : प्रस्तुत शोध-पत्र का निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं जो इस प्रकार हैं-

(१) अध्ययन क्षेत्र सिद्धार्थनगर जनपद की स्थिति एवं विस्तार का अध्ययन करना।

(२) अध्ययन क्षेत्र सिद्धार्थनगर जनपद की कृषि गहनता का अध्ययन करना।

* शोधछात्र, भूगोल विभाग, कुटीर पी.जी. कॉलेज चक्के, जौनपुर

(३) अध्ययन क्षेत्र सिद्धार्थनगर जनपद की भूमि उपयोग क्षमता का अध्ययन करना।

आँकड़ों का संग्रह एवं विधितन्त्र : प्रस्तुत शोधपत्र के लिए आँकड़ों का संग्रह द्वितीयक स्रोतों से किया गया है। इसके अन्तर्गत उपयोग किये गये आँकड़ों को जिला सांख्यिकीय पत्रिका सिद्धार्थनगर कृषि विभाग कार्यालय सिद्धार्थनगर तथा सम्बन्धित शोध सन्दर्भों व ग्रन्थों का आधार बनाया गया है।

शोध पत्र को पूर्ण करने के लिए विवरणात्मक एवं विश्लेषणात्मक विधिकों के साथ ही अद्यतन विकसित सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त अध्ययन को प्रासंगिक बनाने के लिए स्वयं द्वारा अध्ययन क्षेत्र में किये गये सर्वेक्षण एवं भ्रमण द्वारा प्राप्त नये अनुभवों को सम्मिलित किया गया है। शोध पत्र को सुस्पष्ट एवं संक्षिप्त करने हेतु आवश्यकतानुसार तालिकाओं एवं मानचित्रों का प्रयोग किया गया है।

व्याख्या एवं विश्लेषण

कृषि गहनता : कृषि गहनता से आशय सामान्यतया किसी क्षेत्र विशेष के उस कृषि क्षेत्र से है जिस पर एक वर्ष के भीतर एक से अधिक कितनी शस्यों का उत्पादन किया जाता है। किसी भी क्षेत्र में शुद्ध बोये गये क्षेत्र की अपेक्षा कुल शस्य क्षेत्र का अधिक होना शस्य गहनता की मात्रा को प्रदर्शित करता है।[२] कृषि गहनता वह सामाजिक बिन्दु है जहाँ पूँजी, श्रम, भूमि तथा प्रबन्ध का सम्मिश्रण सर्वाधिक लाभकारी प्रमाणित होता है।[३] वर्तमान भारतीय अर्थव्यवस्था में उक्त तथ्यों द्वारा शस्य गहनता का निर्धारण दुरूह है क्योंकि सन्दर्भित क्षेत्र में मानव श्रम बाहुल्य तथा बेरोजगारी है। अध्ययन क्षेत्र में कृषि जीवनयापन का मुख्य आधार है। जोतों का आकार छोटा होने के कारण यहाँ कृषि गहनता का निर्धारण सिंचाई सुविधाओं, उर्वरकों, उन्नतशील बीजों तथा कृषि यन्त्रों आदि के प्रयोगों द्वारा होता है। इस संकल्पना का प्रादुर्भाव एक ही वर्ष में अनेकों फसलों की उत्पादन मात्रा से होता है[४]। अनेकों विद्वानों ने शस्य गहनता का अध्ययन किया है। वी.एस. त्यागी ने शस्य गहनता के स्थान पर कृषि गहनता शब्द का प्रयोग किया है[५]। वाई.जी. जोशी ने शस्य गहनता के स्थान पर शस्य तीव्रता का प्रयोग अधिक उपयोगी समझा[६]। कृषि गहनता सकल बोया गया क्षेत्र तथा शुद्ध बोया गया क्षेत्र के अनुपात को प्रतिशत में प्रकट करत है। प्रस्तुत अध्ययन में सिद्धार्थनगर जनपद की कृषि गहनता सूचकांक ज्ञात करने हेतु शोधार्थी ने निम्न सूत्र का प्रयोग किया है–

सूत्र–

$$\text{शस्य गहनता} = \frac{\text{सकल बोया गया क्षेत्र}}{\text{शुद्ध बोया गया क्षेत्र}} \times 100$$

उपर्युक्त सूत्र की सहायता से अध्ययन क्षेत्र सिद्धार्थनगर जनपद का कृषि गहनता सूचकांक विकासखण्डवार ज्ञात कर निम्न तालिका संख्या का निर्माण किया गया है। तत्पश्चात् अध्ययन क्षेत्र को कृषि गहनता क्षेत्रों में विभजित किया गया है।

अति उच्च कृषि गहनता के क्षेत्र (> २००)

कृषि गहनता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी कृषि गहनता सूचकांक २०० से अधिक पाया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र के अन्तर्गत जनपद के दो विकासखण्ड आते हैं जिनमें वर्डपुर व लोटन विकासखण्ड सम्मिलित हैं जिनका कृषि गहनता सूचकांक क्रमशः २०७.७५ व २००.२४ है। ये दोनों विकासखण्ड आपस में मिलकर एक यू आकार की पेटी का

निर्माण करते हैं।

तालिका संख्या-१

सिद्धार्थनगर जनपद में कृषि गहनता

क्र.सं.	विकासखण्ड	सकल बोया गया क्षेत्र हेक्टेयर में	शुद्ध बोया गया क्षेत्र हेक्टेयर में	कृषि गहनता सूचकांक
१	सुनियांव	३१७१८	१८८२३	१६८.५१
२	इटवा	२९८९३	१९२६१	१५५.२०
३	भानवापुर	३२६८४	२००३०	१६३.१८
४	बढ़नी	२२४५८	१२६७२	१७७.२३
५	शोहरतगढ़	२१५७५	११८२०	१८२.५३
६	वर्डपुर	१८६३१	८९६८	२०७.७५
७	नौगढ़	२०७४०	११०१४	१८८.३१
८	जोगिया	१९८४५	१०४३४	१९०.२०
९	उस्का बाजार	३००८०	२१८४१	१३७.७२
१०	डुमरियागंज	३१९७४	२२९७५	१३९.१७
११	बांसी	२९५१०	१८९९७	१५५.३४
१२	मिठवल	३३५६८	२१०५७	१५९.४१
१३	खेसरहा	३१६४०	१८९६०	१६६.८८
१४	लोटन	१८२२४	९१०९	२००.२४
योग	ग्रामीण	३७२५४०	२२५९६१	१६४.८७
	नगरीय	१०३५५	२३११	४४८.०७
	जनपद	३८२८९५	२२८२७२	१६७.७४

स्रोत : सांख्यिकीय पत्रिका जनपद सिद्धार्थनगर २०१८-१९ से आगणित

उच्च कृषि गहनता के क्षेत्र (१८०-२००) : कृषि गहनता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी कृषि गहनता सूचकांक १८०-२०० के मध्य पायी जाती है। इस प्रकार इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र तीन विकासखण्ड आते हैं जिनमें शोहरतगढ़, नौगढ़ व जोगिया विकासखण्ड सम्मिलित हैं जिनका कृषि गहनता सूचकांक क्रमशः १८२.५३, १८८.३१ व १९०.२० है। इस क्षेत्र के सभी विकासखण्ड आपस में मिलकर एक विस्तृत मेखला का निर्माण करते हैं।

मध्यम कृषि गहनता के क्षेत्र (१६०-१८०) : कृषि गहनता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी कृषि गहनता सूचकांक १६०-१८० के मध्य पाया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के सर्वाधिक चार विकासखण्ड आते हैं जिनमें खुनियांव, भानवापुर, बढ़नी व खेसरहा विकासखण्ड सम्मिलित हैं जिनका कृषि गहनता सूचकांक क्रमशः १६८.५१, १६३.१८, १७७.२३ व १६६.८८ है। इन विकासखण्डों में से बढ़नी अध्ययन क्षेत्र के उत्तारी भाग में व

खेसरहा अध्ययन क्षेत्र के दक्षिणी पूर्वी भाग में अवस्थित है जबकि खुनियांव व भानवापुर विकासखण्ड आपस में मिलकर अध्ययन क्षेत्र के मध्य से पश्चिमी भाग तक एक लम्बी पेटी का निर्माण करते हैं।

निम्न कृषि गहनता के क्षेत्र (१४०-१६०) : कृषि गहनता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी कृषि गहनता सूचकांक १४०-१६० के मध्य पायी जाती है। इस प्रकार इस श्रेणी में अध्ययन क्षेत्र के तीन विकासखण्ड आते हैं जिनमें इटवा, बांसी व मिठवल विकासखण्ड सम्मिलित हैं जिनका कृषि गहनता सूचकांक क्रमशः १५५.२०, १५५.३४ व १५९.४१ है। इन विकासखण्डों में से इटवा अध्ययन क्षेत्र के पश्चिमोत्तार भाग में अवस्थित है जबकि बांसी व मिठवल विकासखण्ड आपस में मिलकर अध्ययन क्षेत्र के मध्य से दक्षिण भाग तक मेखला का निर्माण करते हैं।

अति निम्न कृषि गहनता के क्षेत्र (<140) : कृषि गहनता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी कृषि गहनता सूचकांक १४० से कम है। इस प्रकार इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के दो विकासखण्ड आते हैं, जिनमें उस्का बाजार व डुमरियागंज विकासखण्ड सम्मिलित हैं। जिनका कृषि गहनता सूचकांक क्रमशः १३७.७२ व १३९.१७ है (तालिका सं० १) इन विकासखण्डों में से उस्का बाजार अध्ययन क्षेत्र के पूर्वी भाग में व डुमरियागंज विकासखण्ड अध्ययन क्षेत्र के दक्षिणी पश्चिमी भाग में अवस्थित है।

उपर्युक्त तालिका संख्या १ से स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धार्थनगर जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों की कृषि गहनता सूचकांक १६४.८७ व नगरीय क्षेत्रों की कृषि गहनता सूचकांक ४४८.०७ है इस प्रकार अध्ययन क्षेत्र सिद्धार्थनगर जनपद की कृषि गहनता सूचकांक १६७.७४ है जबकि विकासखण्ड स्तर पर सबसे अधिक सूचकांक वर्डपुर विकासखण्ड का २०७.७५ व सबसे कम उस्का बाजार विकासखण्ड का १३७.७२ पाया जाता है जो तालिका संख्या १ से स्पष्ट है।

भूमि उपयोग क्षमता : भूमि संसाधन के वैज्ञानिक विश्लेषण में भूमि उपयोग के विभिन्न आयामों के सूक्ष्म विवेचना होती है। भूमि उपयोग क्षमता क्षेत्र विशेष में भूमि उपयोग के विभिन्न पहलुओं के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होती है। भूमि उपयोग क्षमता परिवर्तनशील होती है क्योंकि इसके प्रमाण भौगोलिक तथ्य वयम विभिन्नता जन्य परिवर्तनशील स्वह्वप से युक्त होते हैं। डॉ. जसवीर सिंह[७] ने हरियाणा राज्य की भूमि उपयोग क्षमता के निर्धारण में भूमि उपयोग क्षमता का अर्थ कुल उपलब्ध भूमि में से बोयी गयी भूमि का प्रतिशत बतलाया है। उनके अनुसार भूमि उपयोग क्षमता एवं शस्य गहनता समानार्थी है जबकि डॉ. वी.वी. सिंह[८] ने भूमि उपयोग क्षमता एवं शस्य गहनता को पृथक प्रत्यय बताते हुए स्पष्ट किया है कि शस्य गहनता भूमि उपयोग क्षमता के अध्ययन का एक विशिष्ट पक्ष है। सिद्धार्थनगर जनपद में भूमि उपयोग क्षमता का निर्धारण कोटि गुणांक विधि से किया गया है।[९] भूमि उपयोग के पाँच प्रमुख घटकों अकृष्य भूमि, कृष्य भूमि, कृष्य बंजर भूमि, शुद्ध कृषिगत भूमि, कृषि गहनता सूचकांक एवं सिंचाई गहनता को कोटि गुणांक हेतु चुना गया है। भूमि उपयोग के ये घटक सिद्धार्थनगर जनपद के विभिन्न भागों में अलग-अलग स्वह्वपों में विकसित हुए हैं। परिणामतः भूमि उपयोग क्षमता के क्षेत्रीय अध्ययन में विभिन्नता का प्राप्त होना स्वाभाविक है। कोटि गुणांक विधि के आधार पर अध्ययन क्षेत्र के कुल १४ विकासखण्डों की प्रतिशत गणना करके अकृषित एवं कृष्य बंजर भूमि की कोटि गणना आरोही क्रम में तथा शुद्ध कृषिगत भूमि शस्य गहनता व सिंचाई गहनता की कोटि गणना अवरोही क्रम में सभी विकासखण्डों को कोटिकृत करके प्रत्येक विकासखण्ड के कोटि प्राप्तांकों के योग को उनकी संख्या ५ से विभाजित करके कोटि गुणांक अथवा भूमि उपयोग क्षमता प्राप्त किया गया

है।

उक्त विधि से भूमि उपयोग क्षमता के निर्धारण में सिद्धार्थनगर जनपद की औसत भूमि उपयोग क्षमता का कोटि गुणांक है। अध्ययन क्षेत्र की भूमि उपयोग क्षमता का श्रेणीगत विवरण तालिका संख्या २ व ३ से दृष्टव्य है। सिद्धार्थनगर जनपद में न्यून भूमि उपयोग क्षमता कोटि गुणांक खेसरहा विकासखण्ड का ३.४ तथा सबसे अधिक भूमि उपयोग क्षमता कोटि गुणांक शोहरतगढ़ विकासखण्ड में ११.० पाया जाता है जो अध्ययन क्षेत्र के उत्तारी भाग में अवस्थित है।

तालिका संख्या ३

सिद्धार्थनगर जनपद में भूमि उपयोग क्षमता का श्रेणीगत विवरण

श्रेणी	कोटि गुणांक	विकासखण्डों की संख्या	कुल विकासखण्डों का प्रतिशत	विकासखण्डों का नाम
उच्च	६०५ से कम	४	२८.५७	नौगढ़, उस्का बाजार, डुमरियागंज, खेसरहा
मध्यम	६.५–८.५	७	५०.००	खुनियांव, इटवा, भानवापुर, वर्डपुर
निम्न	८.५ से अधिक	३	२१.४३	जोगिया, बांसी, मिठवल, बढ़नी, शोहरतगढ़, लोटन

उच्च भूमि उपयोग क्षमता के क्षेत्र (६.५ से कम) : भूमि उपयोग क्षमता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी भूमि उपयोग क्षमता ६.५ से कम है। इस प्रकार इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के चार विकासखण्ड आते हैं जिनमें नौगढ़, उस्का बाजार, डुमरियागंज व खेसरहा विकासखण्ड सम्मिलित हैं। जिनका भूमि उपयोग क्षमता क्रमशः ६.२, ६.४, ६.४ व ३.२ पाया जाता है। इन विकासखण्डों में से नौगढ़ व उस्का बाजार अध्ययन क्षेत्र के पूर्वी भाग में एक पेटी का निर्माण करते हैं जबकि डुमरियागंज अध्ययन क्षेत्र के दक्षिणी पश्चिमी भाग में व खेसरहा अध्ययन क्षेत्र के दक्षिणी पूर्वी भाग में अवस्थित है जो तालिका संख्या २ व ३ व मानचित्र संख्या २ से स्पष्ट है। भूमि उपयोग क्षमता के इस क्षेत्र में अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों का २८.५७ प्रतिशत विकासखण्ड आते हैं। इस क्षेत्र में खेसरहा विकासखण्ड का कोटि सूचकांक सबसे कम (३.४) है अतः खेसरहा विकासखण्ड का भूमि उपयोग क्षमता सबसे उच्च माना जायेगा क्योंकि भूमि उपयोग क्षमता निर्धारण में कोटि गुणांक विधि से जिस इकाई का कोटि गुणांक सबसे कम आता है वह इकाई सभी इकाइयों में उच्च भूमि उपयोग क्षमता की मानी जाती है। भूमि उपयोग क्षमता का विस्तृत विवरण तालिका २ व ३ में दृष्टिगत है।

मध्यम भूमि उपयोग क्षमता के क्षेत्र (६.५–८.५) : भूमि उपयोग क्षमता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी भूमि उपयोग क्षमता कोटि सूचकांक ६.५–८.५ के मध्य पाया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के सर्वाधिक ७ विकासखण्ड आते हैं। जिनमें सुनियांव, इटवां, भानवापुर, वर्डपुर, जोगिया, बांसी, व मिठवल विकासखण्ड सम्मिलित हैं। जिनका भूमि उपयोग क्षमता सूचकांक क्रमशः ७.३, ७.७, ७.५, ७.९, ६.६, ८.२ व ७.६ पाया जाता है जो तालिका संख्या २ व ३ से स्पष्ट है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के सर्वाधिक ७ विकासखण्ड आते

हैं जो अध्ययन क्षेत्र के कुल विकासखण्डों का ५० प्रतिशत है (तालिका संख्या २ व ३ व मानचित्र सं० २) इस क्षेत्र के विकासखण्डों में से वर्डपुर अध्ययन क्षेत्र के उत्तारी भाग में अवस्थित हैं जबकि अन्य सभी ६ विकासखण्ड इटवा, भानवापुर, खुनियांव, जोगिया, बांसी व मिठवल आपस में मिलकर अध्ययन क्षेत्र के पश्चिमी भाग से मध्य पूर्वी भाग तक एक विस्तृत श्रृंखला का निर्माण करते हैं जो मानचित्र संख्या २ से स्पष्ट है।

निम्न भूमि उपयोग क्षमता के क्षेत्र (८.५ से अधिक) : भूमि उपयोग क्षमता के इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के उन विकासखण्डों को रखा गया है जिनकी भूमि उपयोग क्षमता कोटि सूचकांक ८.५ से अधिक पाया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन क्षेत्र के ३ विकासखण्ड आते हैं जिनमें बढ़नी, शोहरतगढ़, व लोटन विकासखण्ड सम्मिलित हैं जिनका भूमि उपयोग क्षमता कोटि सूचकांक क्रमशः ९.४, ११.०, व ९.४ है। जो तालिका संख्या २ व ३ से स्पष्ट हो जाता है। इस क्षेत्र के विकासखण्डों में से लोटन अध्ययन क्षेत्र के पूर्वी भाग में अवस्थित है। जबकि बढ़नी व शोहरतगढ़ विकासखण्ड आपस में मिलकर अध्ययन क्षेत्र के उत्तारी भाग में एक मेखला का निर्माण करते हैं।

निष्कर्ष : सिद्धार्थनगर जनपद में भूमि उपयोग क्षमता के उन्नयन हेतु सिंचाई सुविधा एवं क्षमता का विकास किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि सिंचाई साधनों एवं सिंचाई क्षमता में वृद्धि के फलस्वरूप कृषि योग्य भूमि को कृषिगत भूमि में परिणत किया जा सकेगा फलस्वरूप एकाधिक फसली क्षेत्र एवं कृषि गहनता में अभिवृद्धि होगी और भूमि उपयोग क्षमता बढ़ जायेगी। इसके द्वारा प्रति इकाई कृषिगत क्षेत्र से अधिकतम लाभ तथा भविष्य में तीव्र गति से धन वृद्धि के सन्दर्भ में भूमि उपयोग के विभिन्न आयाम अनुकूलतम उपयोग द्वारा जनसंख्या भार वहन करने में समर्थ हो सकेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Duggal, S.L. (1971) : "Spatial Variations and Change in the Cropping Patterns in the N.E. Region of Haryana" the Geographical Observer Vol. 7. P. 39.
2. Singh, Minati (1983) : "Lower Ganga-Ghaghara Doab : A Study in Rural Settlements." P. 166.
3. Singh, Charan (1978) : Indians Economic Policy, Vikash Publishing House, Pvt Ltd. Delhi, P. 128.
4. Tandon P.K. and Dhandyal, S.P. (1967) : "Principles and Methods of Farm Managements." P. 60
5. Tyagi, B.S. (1972) : "Agriculture Intensity in Chunar Tahsil District Mirzapur, U.P." N.G.J.I. Vol. XVIII, Pt. 1, PP. 42-48.
6. Joshi, Y.G. (1972) : "Agriculture Geography of the Narmada Basin" (in Hindi) M.P. Hindi Granth Academy, P. 118.
7. Singh, Jasnur (1972) : "Spatia-Temporal Development and Land Use Efficiency in Haryana." Geographical Review of India, Calcutta Vol. XXXIV, No. 4, PP 312-326.
8. Singh, B.B. (1979) : "Krishi Bhoogol, (In Hindi)" Tara Publication, Varanasi, P. 131.
9. Singh, B.B. (1971) : "Land Utilization Efficiency Stages and Optimism." Uttar Bharat Bhoogol Patrika, Gorakhpur, Vol. 7, No. 2, PP. 85-101.

शोध नवनीत शोध पत्रिका के सामान्य नियम

- शोध-नवनीत शोध पत्रिका के सम्पादक, समीक्षक आदि समस्त पद अवैतनिक हैं।
- शोध-नवनीत शोध पत्रिका देश-विदेश के विद्यार्थियों, शोधच्छात्रों, शिक्षाविदों तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों के शोध प्रक्रिया आधारित गुणवत्तापरक, ज्ञानपूर्ण एवं स्तरीय शोधपत्रों/शोधलेखों को नि:शुल्क प्रकाशन के लिए आमंत्रित करता है।
- सम्पादक मण्डल/समीक्षक समिति द्वारा चयनित शोधपत्रों/शोधलेखों को ही प्रकाशित किया जायेगा; किन्तु इसकी सामग्री के प्रति जवाबदेही इसके लेखकों की होगी। शोधपत्र/शोधलेख मौलिक या पाण्डुलिपि से सम्बन्धित होना चाहिए। लेखकों के मत से सम्पादक मण्डल की सहमति अनिवार्य नहीं है, किन्तु किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के विरुद्ध लेखों के प्रकाशन के लिए न विचार किया जायेगा और न ही प्रकाशित किया जायेगा।
- सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक आदि के द्वारा अस्वीकृत शोधपत्रों/शोधलेखों को उनके लेखकों को वापस नहीं किया जायेगा। इसलिए लेखक अपने पास इसकी एक प्रति सुरक्षित रखें। शोधपत्रों/शोधलेखों की सामग्री अनुचित या विवादित होने की स्थिति में सम्पादक/सम्पादक मण्डल/समीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा। सम्पादक/सम्पादक मण्डल आदि द्वारा शोधपत्रों/शोधलेखों के पाण्डुलिपि आदि में कुछ परिवर्तन करके प्रकाशित किया जा सकता है।
- शोध-नवनीत में प्रकाशित शोधपत्रों/शोधलेखों को देश-विदेश के विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, शोध-संस्थान आदि के द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत किये जाने पर प्रकाशक, सम्पादक, सम्पादक मण्डल, मुद्रक आदि की कोई जिम्मेदारी नहीं होगी।
- अगला अंक प्रकाशित होने के बाद पहले के अंकों की सामग्री का दुरुपयोग न हो इसलिए नष्ट कर दिया जायेगा। सी.डी./ई-मेल से प्राप्त लेखों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जायेगा।
- शोध-नवनीत से सम्बन्धित विवाद के किसी भी निर्णय के लिए न्यायिक क्षेत्र जनपद न्यायालय फैजाबाद ही मान्य होगा।
- लेखक शोध प्रक्रिया आधारित शोधपत्रों/शोधलेखों को 5 से 7 पृष्ठों (2000-3000 शब्दों) में Unicode (Mangal), Kruti Dev-10 (size 16)/Times New roman (Size-14) में संस्कृत/अंग्रेजी/हिन्दी भाषा में टंकित कराकर सी.डी. (हार्ड कॉपी सहित)/ई-मेल के माध्यम से नाम, पता, मोबाइल नं. ई-मेल सहित भेजें।
- **शोधपत्र में लगभग 150 शब्दों के शोधसार एवं मुख्य शब्द सहित सन्दर्भ अन्त में होना चाहिए।**
- शोधपत्र में सन्दर्भ, लेखक, पुस्तक, व्याख्याकार का नाम, प्रकाशक, प्रकाशन का स्थान, प्रकाशन वर्ष और पेज संख्या आदि सहित होना चाहिए।

ISSN 2321-6581

सम्पर्क सूत्र : +91-7800193920

ई-संङ्केत : **shodhnavneet@gmail.com**

अक्षर संयोजन एवं मुद्रक : **प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स**, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद